जैन भारती

जुलाई 2013 • वर्ष 61 • अंक 7 • वार्षिक रु. 200.00

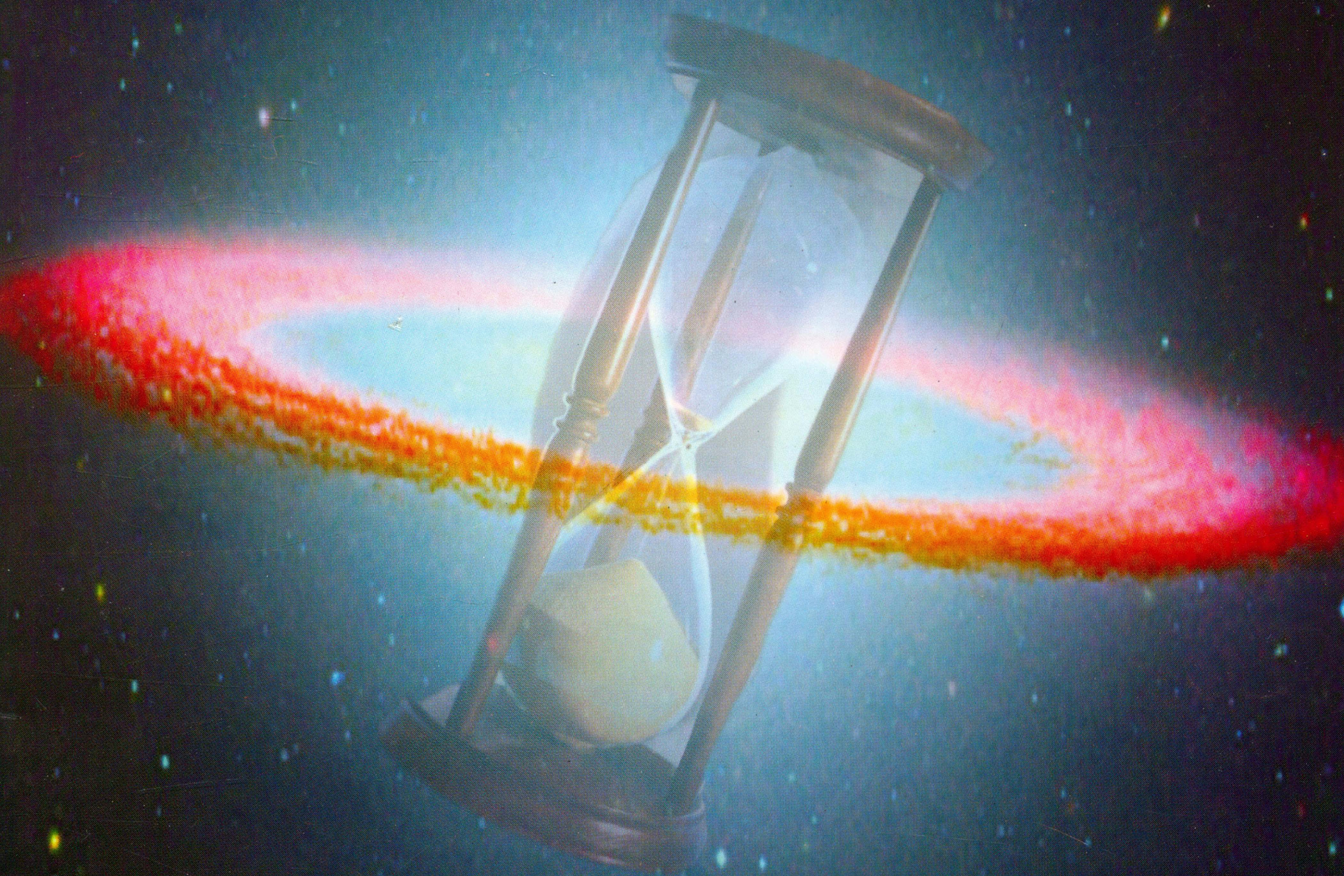

बदलाव के लिए सिर्फ एक क्षण चाहिए

In Memory of

Late Sh. Sohan Lal Kataria

Wife Smt. Sunderbai

Son Manubhai, Praveenkumar, Janak, Yogesh

Vimal, Vikash, Vinay, Vishal, Gouraw, Chirag

Manav, Yash Kataria

Banglore, Mysore, Bemali (Raj.)

MD : VIMAL KATARIA (JAIN)
MD : MADHU KATARIA (JAIN)

VAISHNODEVI LUSH GREENS PRIVATE LIMITED

No. 13, Muthachari Industrial Estate, Nayandhalli
Mysore Road, Bangalore 560 039
e-mail : info@vaishnodeviproperty.com
Phone : 080-23146429, Mobile : 96207 99999

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009.
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

जैन भारती

वर्ष 61 • जुलाई, 2013 • अंक 7

सम्पादक
डॉ. शान्ता जैन

आवरण
गौरीशंकर

अनुक्रम

1.	संपादकीय		5
2.	आत्मा के आस-पास	—आचार्य तुलसी	7
3.	भिक्षु अष्टकम्	—आचार्य महाप्रज्ञ	11
4.	तेरापंथ का अर्थ	—आचार्य महाप्रज्ञ	13
5.	आयरियं सरणं गच्छामि	—आचार्य महाश्रमण	17
6.	तेरापंथ : परिचय और प्रगति	—मुनि राकेश कुमार	20
7.	शुचिता का एक नाम भिक्षु	—मुमुक्षु शांता	23
8.	आज की कीमत : एक अनुचिंतन	—श्री जेठमल भंसाली	25
9.	निमित्त व उपादान के अंतःसंबंध...	—डॉ. अनेकांत कुमार जैन	28
10.	देख कबीरा रोया	—दीन दयाल शर्मा	31
11.	दृष्टि बदलें तो दिशा बदले	—पदमचंद पटावरी	33
12.	इतिहास के झरोखे में : साध्वी परंपरा	—साध्वी विमलप्रज्ञा	35
13.	संस्कारों की जन्मदात्री : नारी	—साध्वी डॉ. गवेषणाश्री	39
14.	चार लाख श्लोकों का सार एक श्लोक में		41
15.	जीवित सहिष्णुता		43
16.	आमंत्रण चारित्रिक मूल्यों की पुनः स्थापना का	—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा	45
17.	नदी का पानी तो नहीं पीया?		48
18.	सा विद्या या विमुक्तये	—समणी ऋजु प्रज्ञा	51
19.	तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा		55

संपादकीय सम्पर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306

प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- • त्रैवार्षिक 500/- • दसवर्षीय 1500/- रुपए

आचार्यश्री महाश्रमण ने कहा —

'एक नारा यदा-कदा श्रुतिगोचर होता है—जीओ और जीने दो। इस पर हम जरा विचार करें। जीना कोई बड़ी बात नहीं है। आदमी ही नहीं, कीड़े-मकोड़े और पेड़ पौधे भी जीवन जीते हैं। इसलिए जीना एक सामान्य बात है। बड़ी बात है—जागृतियुक्त जीवन। 'जीने दो' का हार्द यदि यह है कि किसी के जीने में बाधा मत बनो तो यह अच्छी बात है। जीओ और जीने दो के साथ यदि संयमपूर्वक जीओ की बात जुड़ जाए तो उसमें विशिष्टता आ सकती है। वैसे इस घोष से अच्छा घोष यह हो सकता है—जागो और जगाओ। यदि स्वयं जाग गए और दूसरों को भी जगा दिया तो आत्मकल्याण की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

'जागो और जगाओ' का अर्थ है—संयमपूर्वक जीने का अभ्यास करना और दूसरों को संयम की प्रेरणा देना। व्यक्ति को वाणी-संयम का अभ्यास करना चाहिए। वाणी एक शक्ति है, इसलिए उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। जिसने वाणी-संयम का अभ्यास कर लिया, समझें कि उसके जीवन में जागने का एक आयाम आ गया। व्यक्ति को भोग और इंद्रियों के संयम का अभ्यास करना चाहिए। जैन श्रावकाचार में स्वदार- संतोष और स्वपतिसंतोष व्रत निर्दिष्ट हैं। यदि संयम का अभ्यास होता है तो बलात्कार जैसी घटनाओं को पनपने का अवसर ही क्यों मिलेगा? व्यक्ति असंयम के कारण ऐसा अमानवीय कृत्य कर लेता है। इसी प्रकार विचार-संयम, शरीर-संयम, खाद्य-संयम आदि को जगाने के अनेक आयाम हैं। व्यक्ति स्वयं जागकर औरों को भी जगाने का प्रयास करे तो श्रेय का पथ प्रशस्त हो सकता है।'

बदलाव के लिए सिर्फ एक क्षण ही काफी है

बदलने के लिए सिर्फ एक क्षण ही काफी है—यह सूक्त जिस दिन पढ़ा, मन में वैचारिक द्वंद्व शुरू हो गया। अपने आपसे प्रश्न पूछा—क्या एक ही क्षण में आदमी बदल सकता है?

व्यवहार में देखते हैं कि अनेक व्यक्ति जीवन भर धर्मकथा सुनने के बाद भी चारित्र की दिशा में वहीं के वहीं खड़े मिलते हैं। उनके स्वभाव में कोई बदलाव नहीं आता। न औरों को वे धार्मिक होने का विश्वास दिला पाते हैं। बीतता समय प्रश्न बनकर खड़ा हो जाता है—आखिर इतना श्रम, इतना समय और इतनी शक्ति लगाई तो सही दिशा में परिणाम क्यों नहीं मिला?

बदलना इतना आसान नहीं होता जितना हम समझते हैं, सोचते हैं। बदलने के लिए बिना पानी तड़पती मछली जैसी छटपटाहट चाहिए। अंतहीन आसमां में उड़ान भरते पाखी जैसा आत्मविश्वास और अर्जुन जैसी लक्ष्यवेधक दृष्टि चाहिए। चाहिए अथाह सागर में नन्ही सी नौका द्वारा उस पार पहुंचने जैसा संकल्प, साहस और निष्ठा। अपनी भूलों को देखने और सुधारने की तैयारी। तब कहीं बदलाव संभव होता है। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि बदलने की कोई उम्र नहीं होती, निर्णायक समय नहीं होता—पता नहीं कब निमित्त मिल जाए और यकायक उपादान बदल जाए। इसलिए बदलने की बात हमेशा याद रहे। मैं बदलना चाहता हूं, क्योंकि मैं बदल सकता हूं, इसलिए आगम कहते हैं—क्षण-क्षण जागो, प्रमाद मत करो। स्वाध्याय करते समय मैंने अनेक घटना-प्रसंगों को पढ़ा, आपने भी पढ़ा होगा कि एक ही क्षण में चामत्कारिक घटनाएं घट जाती हैं। जीवन की दिशा और दशा ही बदल जाती हैं।

- चक्रवर्ती सम्राट् भरत स्नानघर में खड़े-खड़े आईने में अपना सौंदर्य निहार रहे थे। हाथ की अंगुली से अंगूठी कभी उतारते तो कभी वापस पहनते। उतारने और पहनने के बीच सौंदर्य के बदलते रूपों ने उन्हें संसार की अनित्यता का बोध करा दिया और वे राज्य वैभव छोड़ चल पड़े शाश्वत सुख पाने।
- राजकुमार अरिष्टनेमी अपनी बरात के साथ राजकुमारी राजीमती से विवाह करने चले। रास्ते में देखा—एक बाड़े में सैकड़ों पशु-पक्षी कराह रहे हैं, चीख रहे हैं। सारथि से पूछा—यह क्या है? सारथि ने कहा—राजकुमार! सभी जानवर आपकी शादी में भोज के लिए बंदी बनाए गए हैं। दिल दहला देनेवाले इस प्रसंग ने अरिष्टनेमी का निर्णय बदल दिया—मेरी खुशी में इतने निरीह पशु-पक्षियों की हिंसा! अहिंसा की चेतना जागी और वे संन्यस्त हो गए।
- बाहुबली साधना के शिखर पर खड़े थे। घोर तपस्या तप रहे थे। लताएं उनके शरीर पर चढ़ आईं थीं, पक्षीगण उन लताओं के बीच नीड़ बनाने लग गए थे, ऐसी स्थिति में मन में छुपा नन्हा सा अहं का बीज उन्हें मुक्ति तक नहीं पहुंचने दे रहा था कि मैं ऋषभ के पास क्यों जाऊं? 98 भाइयों की दासता क्यों स्वीकार करूं? अचानक ब्राह्मी लिपि साध्वी बहिनों की आवाज कानों में पड़ी—'गज से उतरो म्हारा वीर' गीत की इस एक पंक्ति ने उन्हें भीतर से जगा दिया कि मेरा अहंकार ही मेरी बाधा बन गया। और एक क्षण लगा उन्हें बदलने में, वे केवलज्ञानी बन गए।

- ध्यान में राजा प्रसन्न राजर्षि ने जैसे ही सुना कि लोग मेरी साधना पर प्रतिक्रिया कर रहे हैं—शत्रुओं ने तो राज्य पर आक्रमण कर दिया और खुद पलायनवादी बन यहां ध्यानी बना खड़ा है। बस, मन को संवेदना छू गई और बिना कुछ किए, बिना शस्त्र, बिना सेना और बिना युद्ध हिंसा की जमीं पर उतर आए और सातवीं नारकी का बंध कर लिया। राजा श्रेणिक को जब भगवान महावीर ने बताया तो विश्वास भी नहीं हुआ, पर दूसरे ही क्षण उनके चिंतन की भावधारा बदली—कौन शत्रु! कैसा युद्ध! किसके लिए लड़ना! युद्ध ही करना है तो स्वयं के साथ क्यों न करूं? और उसी पल-क्षण वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।
- राजा श्रेणिक शालिभद्र का वैभव देखने उनके घर आए। मां भद्रा ने राजकुमार को ऊपरी महलों से यह कहकर बुलाया कि नीचे आओ, तुम्हारे नाथ आए हैं। अपने आपको सब कुछ मानने वाले शालिभद्र को नाथ शब्द ने भीतर से हिला दिया—क्या मेरा भी कोई नाथ है? स्वतंत्रता के बीच गुलामी का एक पल भी सह्य नहीं हुआ और अपना नाथ स्वयं बनने के लिए संन्यस्त हो गए।
- धन्य कुमार को सुभद्रा की इस एक बात ने बदल दिया कि मेरा भाई दीक्षा लेना चाहता है, इसलिए वह प्रतिदिन एक-एक पत्नी को त्यागता है और कल वो साधु बन जाएगा, इसलिए मेरी आंखों से आंसू टपक रहे हैं। धन्य कुमार ने मजाक में कहा—जब साधु ही बनना है तो फिर एक साथ क्यों नहीं छोड़ देते अपनी पत्नियों को। सुभद्रा ने प्रतिक्रिया की—कहना सरल है, करके दिखाना बहुत कठिन है। और इन्हीं चुनौती भरे शब्दों ने धन्य कुमार को उसी क्षण तैयार कर दिया साधु बनने के लिए।
- बुद्ध को भी बदलने का एक ही क्षण मिला था जब उन्होंने श्मशान ले जाती हुई अर्थी को देखा। बैसाखियों पर झूलते वृद्ध को देखा और पलंग पर बीमारी से तड़पते रोगी को देखा। ...और इस मौत, बुढ़ापे और बीमारी के दृश्यों ने बुद्ध को भीतर तक बदल दिया इस सोच के साथ कि क्या मैं भी बीमार हो जाऊंगा? क्या मेरे भी यूं ही बाल सफेद और चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाएंगी? क्या मुझे भी मौत मार देगी? यदि ऐसा है तो मुझे इससे मुक्ति चाहिए।
- ऐसा ही एक क्षण आचार्य भिक्षु के जीवन में आया जब उन्होंने सत्य का रास्ता चुना। आगम सिद्धांतों और साधु जीवन के आचार-विचार पर लगे प्रश्नचिह्नों ने उन्हें भीतर तक प्रकंपित कर दिया। आगम शोध की एक रात में अचानक उन्होंने अपने आपको सचाई के सामने खड़ा पाया और साधुता की सही दिशा चुन ली। यह क्षण उनकी आध्यात्मिक क्रांति का क्षण था।

ऐसे एक नहीं, अनेक घटना-प्रसंग जीवन के आस-पास बिखरे पड़े हैं जिन्हें समेटकर, समझकर यदि इन्हें आदतन प्रेरणा का संस्कार बना लिया जाए तो एक नए मानव का जन्म संभव है।

जैन दर्शन कहता है कि तुम क्षण-क्षण जागो, क्योंकि किसी भी क्षण में तुम्हारी जन्मकुंडली लिखी जा सकती है। यदि उस समय शुभ संस्कारों में नहीं रहे तो आयुष्य का बंध इंतजार नहीं करेगा। क्योंकि यह शाश्वत सत्य है कि हम अपनी उम्र के तीसरे हिस्से में अपना अगला जन्म सुनिश्चित कर लेते हैं, पर अफसोस है कि हम उम्र का वो क्षण पहचान नहीं पाते जो आयुष्य का बंध करता है! इसलिए जरूरत है, हम हर क्षण पवित्र भावों में जीएं, क्योंकि पवित्रता के सिवाय जीवन का और कोई सौंदर्य होता भी नहीं।

सौ उपदेशों के बीच एक सीख जीवन बदल सकती है। इस विश्वास के साथ कि हम बदल सकते हैं, यदि हम बदलना चाहें तो। हमें प्रतिक्षण जागरूक बने रहना है। एक भी बुरा विचार, बुरा भाव मन में प्रवेश न होने दें तो भीतरी शुद्धता बनी रहेगी।

—मुमुक्षु शान्ता

आत्मा के आस-पास

आचार्य तुलसी

गतांक से आगे-2

आत्मा का अस्तित्व और व्यक्तित्व

12. **भाव पारिणामिक रहा, आत्मा का अस्तित्व।**
क्षयोपशम औदयिक है, उसका स्फुट व्यक्तित्व।।

पारिणामिक भाव आत्मा का अस्तित्व है। क्षायोपशमिक और औदायिक भाव उसके अस्तित्व को उजागर करते हैं। अस्तित्व और व्यक्तित्व आज के बहुचर्चित शब्द हैं। आत्मा के संदर्भ में इनकी व्याख्या करते समय जैन दृष्टिकोण को सामने रखना आवश्यक है।

जैन दृष्टि के अनुसार पारिणामिक भाव और अर्थपर्याय (अगुरुलघुत्व)—ये दो तत्त्व अस्तित्व को टिकानेवाले हैं। जीव प्रथम क्षण में जैसा है, दूसरे क्षण में भी वैसा ही बना रहे, उसमें परिणमन न हो तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। जीव में परिणमन की क्षमता न हो तो पुनर्जन्म के समय कोई भी जीव छोटा या बड़ा शरीर नहीं पा सकता। एक हाथी का जीव चींटी जितना छोटा शरीर बना लेता है और चींटी का जीव हाथी जैसे विशालकाय शरीर का निर्माण कर लेता है। यह अस्तित्व का विघटन नहीं, व्यक्तित्व की परिणतियां हैं।

13. **हीन नहीं अतिरिक्त क्यों, आत्मा सभी समान।**
निश्चय नय वक्तव्यता, परम सत्य सन्धान।।

14. **तारतम्य प्रत्यक्ष हो, है व्यवहार विधान।**
उभय नयाश्रित चेतना, अनेकान्त विज्ञान।।

संसार की सब आत्माएं समान हैं। उनमें कोई हीन नहीं है और कोई अतिरिक्त नहीं है, विशिष्ट नहीं है। यह निश्चय नय का प्रतिपाद्य है। यही परम सत्य की खोज है। समान आत्माओं में भी जो तरतमता-न्यूनाधिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती है, वह व्यवहार नय का विधान है। निश्चय और व्यवहार नय के प्रतिपादन में रहे भेद में समन्वय स्थापित करने के लिए सापेक्ष दृष्टि का उपयोग किया जा सकता है—स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं और परिवेश की भिन्नता से उनमें अंतर है। इस प्रकार आत्मा निश्चय और व्यवहार—इन दोनों नयों के आश्रित है। यह अनेकांत का विज्ञान है।

पांच भावों का समवाय

15. **घटना के पीछे सदा, रहते पांचों भाव।**
काल नियति प्रारब्ध है, पौरुष और स्वभाव।।

कोई भी घटना निरपेक्ष घटित नहीं होती। उसके साथ काल, नियति, भाग्य, पुरुषार्थ और स्वभाव—इन पांचों भावों का योग रहता है। कुछ लोग केवल काल को ही सब कुछ मानते हैं। कुछ नियति के भरोसे रहते हैं। कुछ लोग भाग्य में जो लिखा है, वही होगा, इस धारणा के आधार पर निष्क्रिय होकर बैठ जाते हैं। कुछ लोग पुरुषार्थ के पुजारी होते हैं और कुछ केवल स्वभाव की परिक्रमा करते हैं। जैनदर्शन का आधार है अनेकांत। वह अपनी सापेक्षता की नीति पर उक्त पांचों समवायों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता है।

16. **काल योग से फसल का, होता है परिपाक।**
है स्वभाव के योग से, फलित आक के आक।।

किसान बीज बोता है। वह चाहता है कि उसे अच्छी फसल मिले। फसल का परिपाक काल सापेक्ष है। प्रातःकाल बीज बोए और सन्ध्या के समय फसल पककर तैयार हो जाए, यह चक्रवर्ती के गृहपति रत्न के लिए तो संभव है, किंतु शेष सभी लोगों को काल की प्रतीक्षा करनी होगी।

17. **बनता है तरु बीज से, यही नियति का तंत्र।**
सार्वभौम सिद्धांत यह, अमिट नियति का मंत्र।।

बीज से वृक्ष बनता है, यह नियति का अनुशासन है। नियति का दूसरा नाम है सार्वभौम सिद्धांत—यूनिवर्सल लॉ। नियति का मंत्र अमिट होता है। कुछ विशेष प्रयोगों से काल, स्वभाव आदि के नियमों को बदला जा सकता है, किंतु नियति के नियम को बदलना संभव नहीं है।

18. **सम प्रयत्न सम बुद्धिबल, परिणति विसदृश लब्ध।**
घटना के वैविध्य का, प्रबल हेतु प्रारब्ध।।

दो व्यक्तियों का बुद्धिबल समान है। उनका प्रयत्न भी समान है। बुद्धिबल और प्रयत्न की समानता होने पर भी उनके कार्यों की परिणति समान नहीं होती। परिणति की असमानता या घटना की विविधता एक प्रश्नचिह्न उपस्थित कर देती है। इस प्रश्न का समाधान है प्रारब्ध—भाग्य। भाग्य साथ न दे तो बुद्धि अकिञ्चित्कर बनकर रह जाती है और प्रयत्न निष्फल जो जाता है।

19. **नियत कार्य निष्पत्ति में, पौरुष है अनिवार्य।**
अंगुलियों के यत्न से, सधता है सत्कार्य।।

प्रत्येक कार्य का परिणाम निश्चित होता है, किंतु उसमें पुरुषार्थ का योग अनिवार्य है। पुरुषार्थ के अभाव में कोई भी कार्य सफल नहीं हो पाता। व्यक्ति के सामने कोई भी अच्छा काम आता है, उसमें अंगुलियों का प्रयत्न होने से ही वह निष्पन्न हो सकता है।

वस्तु-बोध की चार दृष्टियां

20. **दृष्टिचतुष्टय से सकल, होता है व्याख्यात।**
द्रव्य भाव के मध्य में, क्षेत्र काल विख्यात।।

किसी भी वस्तु की व्याख्या करनी हो, वहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों का उपयोग आवश्यक है।

सुख की चाह और सुखाभास

21. **प्राणीमात्र में सहज ही, होती सुख की चाह।**
भ्रान्त-जगत में खोजना, मुश्किल सुख की राह।।

सुख की चाह हर प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति है, किंतु भ्रांतियों से भरे इस जगत में सुख की राह खोजना सरल काम नहीं है। किम्पाक फल देखने में बहुत सुंदर और स्वाद में बहुत मीठा होता है। उसे खाते समय सुख का अनुभव होता है, किंतु वास्तव में वह सुख नहीं, सुखाभास है। उसे खानेवाला अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। सुख की अनुभूति देनेवाला फल दुःखद बन जाता है। किम्पाक फल में सुख की कल्पना एक भ्रांति है। इसी प्रकार यहां अन्य अनेक प्रकार की भ्रांतियां पलती हैं।

22. **सुख और दुःख की परिकल्पना में है मानस मूढ़।**
जलमन्थन घृत के लिए, बने पहेली गूढ़।।

सुख और दुःख की परिकल्पनाओं में मनुष्य का मन मूढ़ बन रहा है। मूढ़ता के कारण वह सुखोपलब्धि के लिए वैसी प्रवृत्ति में संलग्न हो जाता है, जिसकी परिणति दुःख में होती है। घी पाना है। उसके लिए जल का मन्थन करने से पहेली उलझती है। ईंसलिए दुःख की सम्यक् अवधारणा आवश्यक है।

23. **सुखाभास प्रारंभ में, दुःखद है परिणाम।**
वह आध्यात्मिक दृष्टि में, दुख का ही आयाम।।

किसी वस्तु या प्रवृत्ति से प्रारंभ में सुख का आभास होता है, पर अंत में उसका परिणाम दुःखद आता है। उस वस्तु या प्रवृत्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से दुःख का ही आयाम माना गया है।

सुख, सुखाभास और दुःख—ये तीन स्थितियां हैं। जहां सुख है, वहां उसकी खोज नहीं करना और जहां सुख नहीं है, वहां उसकी खोज करना दृष्टि का विपर्यय है, भ्रांति है, विभ्रमपूर्ण दृष्टिकोण है। वास्तविक सुख है आत्मानुभूति। विषयसुख में सुख का आभास होता है, पर वह शुद्ध सुख नहीं है, क्योंकि उसकी परिणति दुःख में होती है। कहा भी है—संसारमोक्खस्सं विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उह कामभोगा।

24. **इंद्रिय-सुख यह अंत में, देता सदा अतृप्ति।**
ईन्धन से क्या अग्नि॰ को, हुई कभी भी तृप्ति।।

इंद्रियों को अनुकूल विषयों का योग मिलने पर सुख की अनुभूति होती है, किंतु वह अंत में अतृप्ति देनेवाला होता है। अग्नि में कितना ही ईंधन डाला जाए, वह उससे कभी तृप्त नहीं होती।

अध्यात्म की अवधारणा के अनुसार पदार्थ-निरपेक्ष सुख ही सुख होता है। लौकिक अवधारणाओं में विश्वास करनेवाले लोग पदार्थ के अभाव में सुख की कल्पना ही नहीं कर सकते। वे सुख का सूत्र असंतोष में खोजते हैं। अर्थशास्त्री मानते हैं कि व्यक्ति के पास एक रुपया है तो उसे चौदह रुपयों का कर्ज ले लेना चाहिए, क्योंकि कर्ज लेनेवाले को भागदौड़ करनी पड़ेगी। उससे उसका काम ठीक चलेगा। यदि वह एक रुपए में संतोष कर लेगा तो उसका विकास ठप हो जाएगा।

25. **रागजनित सुख-चक्र से, परिचित हैं सब लोग।**
इसीलिए व्यापक बना, जनमानस में भोग।।

मनुष्य की इंद्रियां विषयों को ग्रहण करती हैं। विषय अनुकूल होते हैं तो उनके प्रति राग पैदा होता है। राग से सुख का अनुभव होता है। इस सुख-चक्र से सब लोगों का परिचय है। जनमानस में भोग की व्यापकता का एक कारण यही है।

विषयों के भोग से राग होता है। इसी प्रकार अमनोज्ञ विषयों के भोग से द्वेष पैदा होता है। राग-द्वेष सें भाव अशुद्ध बनते हैं। उनसे कर्मों का आकर्षण होता है। जब तक कर्मों का परिपाक नहीं होता, वे सत्ता रूप में रहते हैं। बंध की स्थिति पूरी होने पर वे उदय में आकर फल देते हैं। इस क्रम को निम्ननिर्दिष्ट चक्रक से समझा जा सकता है —

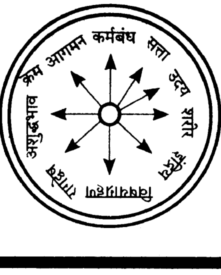

26. **जल में रहकर भी कमल, रहता है निर्लिप्त।**
वैसे निर्मल चेतना, अनासक्ति आदीप्त॥

कमल जल में पैदा होता है और उसी में रहता है। फिर भी वह उसमें लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्राप्त विषयों में अनासक्ति की तीव्रता हो तो मनुष्य की चेतना निर्मल रह सकती है।

भगवान महावीर के अनुसार पदार्थ परिग्रह नहीं है। परिग्रह है मूर्च्छा, पदार्थ के प्रति होनेवाली आसक्ति। अनासक्त भाव से पदार्थ का उपयोग करनेवाला कमल की तरह रह सकता है।

27. **सुख-दुःख के प्रति जागती, अंतः सम्यग्दृष्टि।**
तभी घटित होती सहज, अनासक्ति की सृष्टि॥

सुख और दुःख के प्रति आंतरिक सम्यग्-दृष्टि का जागरण अपेक्षित है। उसके जाग जाने पर सहज रूप में अनासक्ति घटित हो जाती है।

सामान्यतः सुख-दुःख के प्रति लोगों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। वे सुख को दुःख समझ लेते हैं और दुःख को सुख मान लेते हैं। सुख-दुःख की वास्तविक चेतना जागने के बाद न सुख आह्लाद देता है और न दुःख विषाद पैदा करता है। लौकिक धारणा के अनुसार अनुकूल वेदनीय सुख है और प्रतिकूल वेदनीय दुःख है। यह अवधारणा भी सापेक्ष है, क्योंकि 'दुःखमेव सर्व विवेकिनः'—जो सुख लग रहा है, वह भी विवेकी व्यक्ति के लिए दुःख ही है।

भगवती सूत्र में सुख की एक परिभाषा है—जो कर्म संस्कार निर्जीर्ण होता है, वह सुख है। जो बंधन है, वह दुःख है। यह अध्यात्म की परिभाषा है और यही सम्यक् है।

चैतन्य के तीन रूप

28. **चेतन यह चैतन्यमय, है चैतन्य त्रिरूप।**
स्थूल सूक्ष्म अतिसूक्ष्म ज्यों, ऊर्जा उष्मा धूप॥

आत्मा चैतन्य है। उसके तीन रूप हैं —स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म। आत्मा के इन तीन रूपों की तुलना सूर्य की धूप, उष्मा और ऊर्जा के साथ की जा सकती है।

चित्त, लेश्या और अध्यवसाय—ये तीनों एक ही चेतना के रूप हैं। स्थूल चेतना चित्त है। सूक्ष्म चेतना लेश्या है। अतिसूक्ष्म चेतना अध्यवसाय है। चेतना की इस विविधता को सूर्य की तीन अवस्थाओं के द्वारा स्पष्टतः समझा जा सकता है। धूप प्रत्यक्ष दिखाई देती है, वह स्थूल है। उष्मा का अनुभव किया जाता है, वह सूक्ष्म है। ऊर्जा न आंख का विषय है और न अनुभव का। वह अतिसूक्ष्म है।

अध्यवसाय

29. **कार्मण-संयुत चेतना, बनती अध्यवसाय।**
प्राणिमात्र में प्राप्त है, सूक्ष्म स्पंदन प्राय॥

कार्मणशरीर के साथ काम करनेवाली चेतना का नाम अध्यवसाय है। यह आत्मा का सूक्ष्म स्पंदन है। संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें अध्यवसाय न हो। पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म जीवों में भी स्पंदन रूप अध्यवसाय होते हैं।

क्रमशः...

भिक्षु अष्टकम्

आचार्य महाप्रज्ञ

अकम्पः संकल्पः क्वदिचपि न केनापि चलितः,
न चित्ते चांचल्यं न च विपथगामीन्द्रियगणः।
समं सोढा गालिः क्वचन घनमुष्टेः प्रहरणं,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।1।।

तेरापंथ के आद्यप्रणेता आचार्य भिक्षु दृढ़ संकल्प के धनी थे। कोई व्यक्ति उनके संकल्प को किसी भी परिस्थिति में प्रकंपित नहीं कर सका। उनके चित्त में न किसी प्रकार की चंचलता ही थी और न इन्द्रियों की उत्पथगामिता। कहीं उनको गालियां मिलीं तो कहीं सघन मुष्टि का प्रहार। दोनों को उन्होंने समभावपूर्वक सहन किया। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

न रागो न द्वेषो घटितघटनासु प्रतिकृतः,
विरोधः सद्भावे परिणतिमुपागात् प्रतिपदम्।
न लेशः क्लेशानां समजनि निमेषं सहचरः,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।2।।

उनके मन में घटित घटनाओं की प्रतिक्रिया से होने वाला न राग था और न द्वेष। इसलिए पग-पग पर होनेवाला विरोध सहज ही सद्भाव में परिणत हो गया। उनको पलभर के लिए भी लेशमात्र क्लेश नहीं हुआ। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

अलब्धेऽप्याहारे सुमतिरचलन्नो क्षणमपि,
न लब्धं सुस्थानं तदपि पथि नीते स्थिरमतिः।
न कष्टं तत्कष्टं भवति यदि चित् स्पष्टमुदिता,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।3।।

वर्षों तक उन्हें पूरा आहार-पानी नहीं मिला, फिर भी उनका धैर्य क्षणभर के लिए भी विचलित नहीं हुआ। वर्षों तक उन्हें रहने योग्य स्थान नहीं मिला, फिर भी उनकी स्थिर मति स्वीकृत पथ का अनुगमन करती रही, उस पर निश्चल रही। (उन्हें कभी कष्ट का अनुभव नहीं हुआ) यह सत्य है कि चेतना का स्पष्ट जागरण हो जाने पर कष्ट कष्ट नहीं लगता। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

सदा स्वच्छो भावो जिनवचनभावैरपमलः,
कृतादर्शा प्रज्ञा मतिविभवमाक्रम्य सुगता।
न चेर्ष्या नो निंदा गहनतमनिष्ठा स्वचरिते,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।4।।

उनकी निर्मल भावधारा जिनवचनों से अनुप्राणित होकर सदा निर्मल बनी रही। बुद्धि-वैभव का अतिक्रमण कर आदर्श से फलित होनेवाली प्रज्ञा को उन्होंने प्राप्त किया। उनमें अपने चरित्र के प्रति गहरी निष्ठा थी, इसलिए उनके मन में किसी के प्रति न ईर्ष्या का भाव था और न निन्दा का भाव। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

न सा काम्या बुद्धिर्भवति खलु या बंधनिरता,
प्रशस्यां तां मन्ये भवति च यतश्चिद् विकसिता।
स्वचैतन्ये निष्ठा प्रशमसुखवृष्टेरनुभवः,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।5।।

आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं उस बुद्धि को अच्छा मानता हूं, जिससे चैतन्य का विकास हो सके। वह बुद्धि मेरे लिए ग्राह्य नहीं है, जो कर्मबंधन में निरत हो। इस प्रकार उनके मन में अपने चैतन्य के प्रति निष्ठा और समता-सुख की वृष्टि करने वाला अनुभव था। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

ज्वरो यस्याध्वानं सततमविगानं विहितवान्,
निराशा संन्यस्ता सरिति रवितापेन सुतराम्।
प्रकाशः संप्राप्तो गहनतिमिरे चैत्यनिलये,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।6।।

राजनगर में आचार्य भिक्षु को ज्वर का प्रकोप हुआ, जिसने उनके मार्ग को सदा के लिए प्रशस्त बना डाला। सिरियारी की नदी की तप्त बालुका में उन्होंने आतापना ली, जिससे उनकी निराशा सतत मिटती चली गई। उनको केलवा के मंदिर की 'अंधेरी ओरी' के सघन अंधकार में प्रकाश मिला। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

अगम्यं यन्नाम प्रबलतपसा संचितयशो,
न शेषाः संक्लेशा विलयमुपयान्ति स्मरणतः।
नयन् ॐ ऐं ॐॐ अमलमनसार्हं सवलयं,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।7।।

आचार्य भिक्षु का पुण्य नाम अगम्य है। उन्होंने घोर तपस्या की। उनका नाम यशस्वी बन गया। जो व्यक्ति पवित्र मन से 'अर्हम्' का वलय बनाता हुआ 'ॐ ऐं ॐ भिक्षु' इस नाममंत्र का जप करता है, उसके समस्त संक्लेश विलीन हो जाते हैं। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

मतिः सिद्धा शुद्धा भवतु प्रतिबुद्धा प्रतिपलं,
मनो हित्वा भ्रान्तिं व्रजतु सुखदां शांतिममलाम्।
सदा ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं स्फुरतु नितरां भावनिचये,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे।। ।।8।।

उनकी अनुकंपा से मेरी मति सिद्ध, शुद्ध और प्रतिबद्ध हो, मेरा मन भ्रांति को छोड़कर सुखप्रद और विमलशांति को प्राप्त करे, मेरी भावधारा में सदा 'ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं' का मंत्र (ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं) स्फुरित हो। वे निर्मलचेता भिक्षु स्वामी मेरे नयनों में अवतरित हो जाएं—बस जाएं।

अनुवादक—**मुनि राजेन्द्र**

तेरापंथ का अर्थ

आचार्य महाप्रज्ञ

जीवन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है राग। उसे छोड़कर विराग का गीत गाना इस दुनिया में शायद समझ से परे हो सकता है। आज का यह मान्य सिद्धांत बन गया—प्रतिपक्ष होना चाहिए। अनेकांत का बहुत पुराना सिद्धांत है—प्रतिपक्ष होना चाहिए, पर अब यह विज्ञान का भी सिद्धांत बन गया है। हर जगह प्रतिपक्ष अनिवार्य है। लोकसभा में भी प्रतिपक्ष होना चाहिए। जहां अधिनायकवाद है वहां भी किसी न किसी रूप में प्रतिपक्ष की बात सोची जा रही है। प्रतिपक्ष अगर न हो तो संतुलन नहीं रह सकता। संतुलन के लिए पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनों का होना जरूरी है। कोरा क्रोध हो क्षमा न हो तो आदमी एक दिन में मर जाएगा। पक्ष के साथ प्रतिपक्ष है, इसीलिए आदमी जीता है। शरीर है तो साथ में प्रतिशरीर भी है। यदि प्रतिशरीर (एॅन्टी बॉडी) मजबूत न हो तो यह शरीर टिक नहीं सकता, मजबूत नहीं रह सकता। यह शरीर इसलिए टिक रहा है कि एक प्रतिशरीर उसे बचा रहा है।

बंधन है राग

हमारे मानसिक एवं भावनात्मक जगत का संतुलन बनाए रखने के लिए प्रतिपक्ष का होना जरूरी है। राग है तो साथ-साथ विराग का होना भी जरूरी है। जैन धर्म में जो वीतराग शब्द का चुनाव किया गया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण चुनाव है। अर्हत् का मतलब है—वीतराग। राग में सारा संसार है। हमने देव या इष्ट किसी रागी को नहीं, वीतरागी को माना है। जिसमें राग नहीं है, वह वीतराग है। जिसमें कोई दोष नहीं है, वीतराग है। निर्दोष व्यक्ति वही हो सकता है, जो राग से मुक्त हो चुका है। बड़ा बंधन होता है राग का।

बंधनानि खलु संति बहूनि, प्रेमरज्जुदृढ़बंधनमाहु।
काष्ठभेदनिपुणोपि षडंघ्रि, निष्क्रियो भवति पंकजकोषे।।

दुनिया में बहुत सारे संबंध हैं। बांधनेवाले हैं, किंतु यह राग का बंधन सबसे जटिल है। कवि ने दृष्टांत की भाषा में समझाया—भंवरा काष्ठ को भेदकर बाहर निकल जाता है, पर जब कमलकोश में सांझ के समय रह जाता है तो फिर बाहर नहीं निकल सकता, वहीं बंधा का बंधा रह जाता है। उस समय भंवरा सोचता है—रात बीतेगी, सुप्रभात होगा, सूर्य उगेगा, यह पंकज खिलेगा। ऐसा सोचता हुआ कमलकोश में कैद भंवरा अपनी मुक्ति की कामना में डूब जाता है। उसी समय एक हाथी अपनी मस्ती से गुजरता हुआ उस कमलकोश को उखाड़ फेंकता है।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे, हा! हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार ।।.

ममत्व के विसर्जन का यह कितना बड़ा प्रयोग है? विचार का भी ममत्व नहीं। विचार की प्रतिबद्धता भी बड़ी भयंकर होती है। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएं दीं, उनकी मीमांसा करें तो निष्कर्ष यही निकलेगा—प्रत्येक स्थान पर ममत्व को काटा गया। वास्तव में साधुत्व और है ही क्या? साधुत्व किसका नाम है? ममत्व ही साधुत्व में बाधक है। ममत्व का न होना ही साधुपन है। जहां 'मैं और मेरा' यह भाव बना रहेगा वहां साधुता दूर रहेगी। वह आएगी, दरवाजा खटखटाएगी पर भीतर जा नहीं पाएगी। भीतर दरवाजा बंद है। दरवाजा तब तक नहीं खुलता जब तक ममत्व की ग्रंथि सघन बनी रहती है।

भंवरा कमलकोश से नहीं निकल सकता, क्योंकि वह राग का बंधन है। इस बात को आचार्य भिक्षु ने बहुत गहराई से पकड़ा। उन्होंने द्वेष पर ज्यादा बल नहीं दिया। द्वेष वास्तव में है ही क्या? वह राग का अनुगामी या अनुचर है, मूल नहीं है। मूल बंधन या दोष है—राग। जितना भी विस्तार होता है, वह राग का विस्तार है, प्रियता का विस्तार है।

सूत्र अप्रतिबद्धता का

हमारी साधना की पद्धति में इस बात पर बहुत विचार किया गया है। एक सूत्र दिया गया अप्रतिबद्धता का—प्रतिबद्धता न हो। प्रतिबद्धता राग को जन्म देती है। प्रश्न हो सकता है—प्रतिबद्धता किसके साथ न हो? सबसे पहले शरीर के साथ प्रतिबद्धता न हो, स्थान के साथ प्रतिबद्धता न हो। आचार्य भिक्षु ने स्थानक पर जो प्रहार किया, उसका यही आशय था। वे यह जानते थे—रहने के लिए स्थान चाहिए। इस संदर्भ में जो विरोध था, वह स्थान की प्रतिबद्धता का था। प्रत्येक मुनि अपने-अपने स्थान बनाए, स्थान प्रतिबद्ध हो जाए और यह कहा जाए—अमुक स्थान अमुक महाराज का है। आचार्य भिक्षु ने इसी बात का विरोध किया था। विरोध किसी संस्था या उपाश्रय का नहीं था।

उपाश्रय की परंपरा

उपाश्रय की परंपरा बहुत पुरानी रही है। गृहस्थ अपनी साधना के लिए उपाश्रय बनाते थे। प्राचीनकाल से उपाश्रय और पौषधशाला बनाने की परंपरा रही है। आश्रय का अर्थ है घर। घर के निकट साधना के लिए जो स्थान बनाया जाता है उसका नाम बन गया उपाश्रय। आनंद श्रावक के भी उपाश्रय था और अन्यान्य श्रावकों के भी उपाश्रय थे। वे श्रावक वहां धर्म की आराधना किया करते थे। आचार्य भिक्षु ने उपाश्रय का विरोध नहीं किया। कालांतर में ये उपाश्रय मंदिरों के पास बनने लगे। एक समय ऐसा आया—उपाश्रय सामूहिक साधना का केंद्र बन गया। उसमें लोग सामूहिक साधना करने लगे। इन सबमें कोई कठिनाई नहीं है।

स्थान की प्रतिबद्धता न हो

कुछ लोग यह कहते हैं—स्थानक बनने का निषेध किया गया, किंतु आज सभा भवन बने रहे हैं। ये स्थानक ही हैं। वस्तुतः सभा भवन और स्थानक एक नहीं है। सभा भवन किसी मुनि विशेष से प्रतिबद्ध नहीं है। वे सामाजिक संस्थान हैं, समाज की उपयोगिता के लिए हैं। जो साधु स्थानक बनाते हैं, उनका अपना नाम और अपना अधिकार रहता है। उस स्थान में दूसरा ठहर ही नहीं सकता, रह नहीं सकता। कहा जाता है—यह अमुक मुनि महाराज का है और वे ही यहां ठहर सकते हैं। उनकी अनुमति के बिना कोई मुनि नहीं रह सकता। स्थानक के साथ मुनि की प्रतिबद्धता हो गई। इसी प्रतिबद्धता का आचार्य भिक्षु ने विरोध किया। स्थान की प्रतिबद्धता नहीं और आहार की प्रतिबद्धता भी नहीं, शिष्यों की प्रतिबद्धता भी नहीं। आचार्य भिक्षु ने शिष्य शाखा का जो उत्थान किया, उसका उद्देश्य यही था—शिष्यों की प्रतिबद्धता न हो। आज शिष्य शाखा का प्रश्न नहीं है, किंतु प्रकारांतर से यह प्रतिबद्धता भी न हो जाए—अमुक के बिना अमुक काम नहीं चल सकता,

अमुक के बिना अमुक रह ही नहीं सकता। इस विषय में जागरूकता अपेक्षित है।

पुस्तक की प्रतिबद्धता न हो

पुस्तकों की भी प्रतिबद्धता नहीं होनी चाहिए। उस समय पुस्तकों का बड़ा प्रश्न था। पोथियों और पन्नों की जबर्दस्त प्रतिबद्धता थी। ऐसी स्थिति थी—एक प्रति को इधर-उधर लेना मानो किसी का कलेजा लेना है। आज यह स्थिति नहीं है। उस समय प्रतिबद्धता को मिटाने के लिए पुस्तकों का संघीकरण कर दिया गया। तेरापंथ धर्मसंघ की कोई भी प्राचीन प्रति है, उस पर लिखा मिलेगा—यह पुस्तक भिक्षु, भारीमल आदि वर्तमान आचार्य की निश्रा में है। पुस्तक की प्रतिबद्धता हट गई।

निर्लेपता का पर्याय

निश्रा शब्द निर्लेपता का पर्याय बन गया। इसका अर्थ है—मेरा कुछ भी नहीं है। वह मेरे पास है, मेरे काम आ रहा है। साधु के पास रजोहरण रहता है, पर कोई यह नहीं कहेगा, यह मेरा रजोहरण है। वह कहेगा—यह रजोहरण मेरी निश्रा में है, अमुक पात्र मेरी निश्रा में है। वस्त्र, पुस्तकें आदि मेरी निश्रा में है। हमारे पास साधु-साध्वियां हैं, वे दिए हुए हैं, विरासत में मिले हुए हैं। सब दत्तक हैं। इसीलिए जब भी साधु-साध्वियां चातुर्मास संपन्न कर आते हैं तब इस वाक्यावलि को दोहराते हैं—'ये साधु-साध्वियां, पुस्तक-पन्ने हाजिर हैं, मैं हाजिर हूं। आप जहां रखवाएं, वहां रहने का भाव है।' यह निर्लेपता का समर्पण है।

तेरापंथ का अर्थ

एक भाषा में कहा जा सकता है—तेरापंथ का अर्थ ही है ममकार का विसर्जन। ममकार के विसर्जन का व्यावहारिक पक्ष है तेरापंथ। आंतरिक प्रयोग तो स्वयं व्यक्ति पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी आत्मा जाने कि किसने कितने ममत्व का विसर्जन किया है, किंतु व्यवहार में आचार्य भिक्षु ने ममत्व का पूरा विसर्जन करा दिया। यदि यह मेरा पंथ होता तो व्यक्ति ममत्व से जुड़ा रहता।

आचार्य प्रवर भारत की संसद में पधारे। उस समय लोकसभाध्यक्ष थे एम. एस. आयंगर। वे बड़े भावुक और श्रद्धालु थे। बातचीत हुई, आचार्यवर ने तेरापंथ का अर्थ बतलाया। वे इसे सुनकर झूम उठे—तेरापंथ! तेरापंथ! तेरापंथ! इसलिए यह मेरा पंथ है।

ममत्व के विसर्जन का यह कितना बड़ा प्रयोग है! विचार का भी ममत्व नहीं। विचार की प्रतिबद्धता भी बड़ी भयंकर होती है। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएं दीं, उनकी मीमांसा करें तो निष्कर्ष यही निकलेगा—प्रत्येक स्थान पर ममत्व को काटा गया। वास्तव में साधुत्व और है ही क्या? साधुत्व किसका नाम है? ममत्व ही साधुत्व में बाधक है। ममत्व का न होना ही साधुपन है। जहां 'मैं और मेरा' यह भाव बना रहेगा वहां साधुता दूर रहेगी। वह आएगी, दरवाजा खटखटाएगी, पर भीतर जा नहीं पाएगी। भीतर दरवाजा बंद है। दरवाजा तब तक नहीं खुलता जब तक ममत्व की ग्रंथि सघन बनी रहती है।

कठिन है ममत्व का विसर्जन

महारानी विक्टोरिया बड़ी शक्तिशाली साम्राज्ञी हुई है। उसने दरवाजा खटखटाया। भीतर पति था। उसने पूछा—कौन है? उत्तर मिला—महारानी विक्टोरिया। दरवाजा नहीं खुला। तीन बार ऐसा क्रम चला लेकिन दरवाजा नहीं खुला। चौथी बार फिर पूछा—कौन है? उसने कहा—आपकी प्रियतमा विक्टोरिया। तत्काल दरवाजा खुल गया।

जहां अहंकार बोलता है वहां का दरवाजा नहीं खुलता। अहंकार न हो तो दरवाजा खुलता है। सबसे ज्यादा जटिल होता है ममत्व—मेरापन। आचार्य भिक्षु ने इस पर कुठाराघात किया। इस सूत्र का उच्चारण करना सीधी बात है—'जहां पोमं जले जायं णोवलिप्पई वारिणा'—कमल जल में उत्पन्न होता है, पर वह जल से लिप्त नहीं होता। यह बड़ा मृदु पद है। यह निर्लिप्तता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका उच्चारण बड़ा सरल

है, परंतु निर्लेप रहना बड़ा कठिन है। इसलिए कठिन है कि ममत्व की ग्रंथि टूटे बिना निर्लेपता की बात सधती नहीं है। मोह और मूर्च्छा ने जीवन को भद्दा और दोषपूर्ण बना दिया है। यदि यह मूर्च्छा की अंधता न हो तो जीवन आलोकमय बन जाए। अध्यात्म के आचार्यों ने सबसे ज्यादा प्रहार इस बात पर किया कि ममत्व और मूर्च्छा जीवन में न हो।

जड़ की बात

तेरापंथ की मर्यादाएं और व्यवस्थाएं ममत्व को मिटाने का प्रयत्न है। यह ठीक है कि ममत्व-विसर्जन की बात बहुत प्रिय नहीं लगती। कितना कठिन समय रहा होगा, जब शिष्य बनाने की बात नहीं रही होगी। चेला बनाने का निषेध महावीर ने भी नहीं किया। यह तीर्थंकर सम्मत बात थी। महावीर ने कब मनाही की थी– चेला मत बनाओ। केवल आचार्य भिक्षु ने ही यह मर्यादा क्यों की? यह खोज का विषय है कि क्या किसी जैन और अजैन धर्म संप्रदाय में चेला न बनाने की परंपरा रही है? आचार्य भिक्षु ने इसे जड़ की बात माना और इसीलिए उन्होंने ऐसी बात को पकड़ा, जिसे पकड़े बिना आज बहुत से धर्म-संप्रदाय लड़खड़ा रहे हैं।

शिष्यों का ममत्व और समस्याएं

श्री पारस भाई जैन आए। उन्होंने कुछ बड़ी विचित्र बातें बतलाई। मैं किसी का नाम लेना नहीं चाहता। उन्होंने बताया–एक धर्मसंघ, जो काफी बड़ा है, पर व्यवस्था के नाम से शून्य है। जिस मुनि के मन में जो आए, वह करो। चाहे चंदा इकट्ठा करो, बैंक में खाता खोलो, चाहे रात को खाओ, कुछ भी करो, कोई कहनेवाला नहीं है। चाहो तो बड़ों से हस्ताक्षर करवाकर उनके नाम से चाहे जैसे कर लो। इसका कारण क्या हुआ? चेलों की एक परंपरा बन गई। आज एक के पास पांच शिष्य हैं। दूसरे के पास दस या बीस शिष्य हैं। कुछ एक्शन लेने से पहले यह सोचना पड़ता है कि एक को कुछ कहने का अर्थ है—इतने श्रावक तो अलग हो ही जाएंगे। यह शिष्यों का ममत्व होना संगठन के लिए सबसे बड़ा विघ्न है।

आचार्य भिक्षु ने साधना और संघबद्धता–दोनों दृष्टियों से इसे अमान्य किया। परिणाम यह है कि आज वह शिष्य बनाने का संस्कार भी मिट गया। आज तेरापंथ के साधु-साध्वियों में इस संस्कार का बीज ही समाप्त हो गया। किसी के मन में ही नहीं आता है कि चेला बनाऊं या चेली बनाऊं।

बदलते हैं संस्कार

व्यवस्था से आदतें और संस्कार बदलते हैं। मानसिक प्रशिक्षण से भी बदलाव आता है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने 'चेला मत बनाओ' इस बात पर इतना बल दिया कि आज शिष्य-प्रथा पर प्रहार करने की जरूरत भी नहीं है। आज वह मानस और मस्तिष्क ही बदल गया। आदत एक दिन में नहीं बदलती, पर उस दिशा में हमारा प्रयत्न निरंतर चलता रहे तो दस-बीस या पचास वर्ष बाद ऐसी स्थिति आई है—नई आदत का निर्माण होता है और पुरानी आदत बदल जाती है।

परिवर्तन के घटक तत्त्व

ममत्व को छुड़ाना बहुत कठिन बात है, पर यह हम निश्चित मानें–मस्तिष्कीय प्रशिक्षण, शिक्षा, बार-बार अनुचिंतन और व्यवस्था–ये कुल मिलाकर एक ऐसा वातावरण पैदा करते हैं, जिससे आदतों में परिवर्तन आता है। ये तत्त्व हमारी पूरी परंपरा में सदा से चलते रहे हैं, आज भी चल रहे हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो ये ममत्व की जड़ें, वटवृक्ष की तरह इतनी फैल जातीं और इन्हें काटना बड़ा मुश्किल होता, किंतु तेरापंथ धर्मसंघ इसके प्रति प्रारंभ से ही जागरूक रहा।

निर्लेपता कैसे बढ़े? लेप न लगे, आसक्ति न बढ़े। इस दृष्टि से आसक्ति की जड़ों को काटने के प्रयोग बराबर चलते रहे हैं। एक भाषा में कहा जा सकता है—तेरापंथ का अर्थ है—आसक्ति की जड़ों को निर्मूल करने का प्रयत्न। यह क्रम बराबर चलता रहे, यह अपेक्षित है। जितना-जितना ममत्व कम होगा उतना ही धर्मसंघ शास्त्रीय और तेजस्वी बनेगा, हमारी साधना भी उज्ज्वल और विमलतर होती चली जाएगी। ❑

आयरियं सरणं गच्छामि

आचार्य महाश्रमण

आर्हत् वाङ्मय में कहा गया है—णमो आयरियाणं। नमस्कार के पांच पदों में मध्यस्थ आचार्य होते हैं। जब तीर्थंकर विद्यमान नहीं होते हैं, उस समय आचार्यों का अधिक महत्त्व हो जाता है। आचार्य तीर्थंकर के प्रतिनिधि माने गए हैं। धर्मशासन का एक बड़ा दायित्व उन पर होता है।

प्राचीन काल में साधु संघ में सात पदों की व्यवस्था थी। सात पदों की उपस्थिति में मैं समझता हूं आचार्यों का दायित्व थोड़ा सीमित हो जाता है, क्योंकि कार्य विभाजित हो जाता है। तेरापंथ में सात पदों की व्यवस्था नहीं है। भैक्षव शासन में व्यवस्था की गई कि बस, एक आचार्य सातों पदों का दायित्व संभालेंगे। ऐसी स्थिति में आचार्यों का कार्य कितना विस्तृत हो जाता है।

आयरियं सरणं गच्छामि—यह आज का निर्धारित प्रवचन विषय है। मैं आचार्य की शरण में जाता हूं। शरण उसी की लेनी चाहिए जो शरण दे सकने में सक्षम हो। जो शरण न दे सके, उसकी शरण क्यों लें? भैक्षव शासन में आचार्य कितने दायित्व संभालते हैं। मैंने आचार्य भिक्षु को साक्षात् नहीं देखा। परमपूज्य डालगणी तक के आचार्यों को देखनेवाला तो कोई भी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका इस दुनिया में मेरी जानकारी में नहीं है। परमपूज्य कालूगणी को देख चुके कुछ व्यक्ति आज भी मिलते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत कम है। परम पूज्य गुरुदेव तुलसी और परम पूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी को हमने और बहुत से लोगों ने देखा है। आचार्य तुलसी का आचार्यकाल प्रलंब रहा। इतना लंबा आचार्यकाल तेरापंथ के इतिहास में दस आचार्यों में अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ। मैंने उनको देखा और कुछ अंतरंग में जाकर देखा है। आचार्य महाप्रज्ञजी को तो और ज्यादा घनिष्ठता तथा अंतरंगता से देखा है। कितने-कितने कार्य वे करते थे।

मैं गुरुदेव तुलसी को सामने रखकर आचार्यों के संदर्भ में आपको कुछ बताना चाहूंगा। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के दायित्व संपादन की सूची को सामने रखकर कहूंगा तो उनका पहला काम था मार्गदर्शन देना। वे दूसरों को मार्गदर्शन देते थे। अपने शिष्यों को, भक्तों और अनुयायियों को पथदर्शन देना आचार्य का काम है। गुरुदेव तुलसी ने तो कितनों को पथदर्शन दिया होगा। अपनी समस्या लेकर आए व्यक्ति को आचार्य समाधान बताने का प्रयास करते हैं, उसका मार्गदर्शन करते हैं। वे बताते हैं कि इस मार्ग से चलो तो तुम्हारा कल्याण होगा। जो रास्ता उत्पथ और भटकाव की ओर ले जानेवाला होता है, आचार्य उसके प्रति सचेत करते हैं।

आचार्य का दूसरा काम है—सारणा-वारणा करना। अच्छे काम के लिए वे प्रोत्साहित करते हैं। शिष्य को समुचित अवसर प्रदान करते हैं, उसके अच्छे कार्य की अनुमोदना करते हैं, उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं, वह सारणा है। गलत काम के लिए वर्जना करना, गलत दिशा में जाने से रोकने का प्रयास करना वारणा है। अपेक्षा लगे और उचित हो तो व्यक्तिगत रूप से वारणा कर दें और अपेक्षा हो तो भरी परिषद में उपालंभ के रूप में वारणा कर दें कि तुमने यह गलत काम किया है और भविष्य में ऐसा मत करना। गुरुदेव तुलसी ने अपने शासनकाल में सारणा-वारणा के कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किए। मैंने कुछ को तो साक्षात् देखा और कुछ को सुना है। बीदासर का वह प्रसंग विश्रुत है, जब गुरुदेव तुलसी ने वारणा का प्रयोग किया था। इस प्रकार आचार्यों का दूसरा काम है सारणा-वारणा करना।

आचार्य का तीसरा दायित्व है—**प्रव्राजना** यानी दीक्षा देना। यह भी आचार्यों का एक बड़ा काम है। गुरुदेव तुलसी ने कितनों-कितनों को साधु जीवन जीने के लिए प्रेरित किया, सैकड़ों-सैकड़ों को साधु-साध्वी दीक्षा प्रदान की। पुराने समय में तो फिर भी काफी दीक्षाएं बाहर

हो जाती थीं। गुरुदेव तुलसी के युग में भी मैंने देखा कि कुछ दीक्षाएं बाहर होती थीं, पर वर्तमान समय में या इन वर्षों में प्रायः दीक्षाएं आचार्यों के द्वारा संपन्न होती हैं। इस प्रकार प्रव्राजना आचार्यों का एक बड़ा दायित्व है।

आचार्य का चौथा दायित्व है—उत्तराधिकारी की खोज करना, उसका निर्माण करना और उसका मनोनयन करना। पहले तो खोज करना कि मेरे शिष्य समुदाय में उत्तराधिकारी बनने योग्य कौन है? हीरा हर जगह, हर किसी को नहीं मिलता। हीरे को तलाशना पड़ता है। कहा गया है—रत्न आदमी की खोज न करे, पर आदमी को कई बार रत्न की खोज करनी पड़ती है। आचार्यों को भी यह खोज करनी होती है कि मेरे समुदाय में वह रत्न कौन है, जिसे मैं उत्तराधिकार का महत्तर दायित्व सौंप कर निश्चिंत हो सकूं।

आचार्य का पांचवां दायित्व है—चातुर्मास और विहार का निर्धारण कर उस संदर्भ में निर्देश देना। यह भी आचार्यों के जिम्मे एक बड़ा काम है। चातुर्मासों की नियुक्ति पर ध्यान देना कि किस सिंघाड़े का चातुर्मास कहां करना है? चातुर्मास के पूर्व भी कई बार विहार का निर्देश देना पड़ता है कि उधर विहार करो। चातुर्मास की परिसमाप्ति के बाद कौन सिंघाड़ा किधर विहार करे, इस पर ध्यान देना और उस संदर्भ में समुचित निर्देश देना। सारे सिंघाड़ों के चातुर्मासों की निर्धारणा पूरी हो जाए, तब उस वर्ष की निश्चिंतता होती है कि सारा काम हो गया। इस प्रकार चातुर्मास और मर्यादा महोत्सव का निर्धारण कर विहार पथ की घोषणा करना भी इसी दायित्व के अंतर्गत समाहित कहा जा सकता है।

आचार्य का छठा दायित्व होता है—व्यक्ति नियोजन। किसी साधु या साध्वी को किस सिंघाड़े में देना, किसे अग्रणी बनाना—इन बातों पर ध्यान देना और उसका क्रियान्वयन करना, यह भी आचार्यों का दायित्व है। जत्तेण कन्नं व निवेसयन्ति—पिता अपनी पुत्री के बारे में सोचता है कि कैसे उसे अच्छा वर मिले और अच्छे घर में उसका विवाह करूं। इसी प्रकार आचार्य भी इस पर विचार करते हैं कि अपने इस शिष्य या शिष्या को किस साधु या साध्वी को सौंपूं, किस सिंघाड़े में दूं, जिससे इसका विकास हो सके। आचार्य का दायित्व इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। व्यक्ति नियोजन के क्रम में अग्रणियों की नियुक्ति करना और अग्रणियों से भी बड़े की नियुक्ति, जैसे साध्वीप्रमुखा भविष्य में कौन हो सकेगी, इस पर भी यथावत् ध्यान देना, अपेक्षानुसार मंत्री मुनि किसको बनाना, मुख्यनियोजिका किसको बनाना और अपेक्षा हो तो मुख्यनियोजक किसको बनाना, बहुश्रुत परिषद में किसको नियुक्त करना—इन बातों पर भी चिंतन करना आचार्यों का दायित्व होता है। ऐसे अनेक दायित्वों का निर्वाह व्यक्ति नियोजन के संदर्भ में भैक्षव शासन में आचार्य को करना होता है।

आचार्य का सातवां दायित्व है—प्रशिक्षण देना, दूसरों को ज्ञान देना, व्याख्यान देना। गुरुदेव को मैंने देखा। वे प्रातःकालीन व्याख्यान तो प्रायः नियमित रूप से करते थे। रात्रिकालीन व्याख्यान भी वे अपेक्षानुसार देते थे, हालांकि बीच में कुछ विराम भी लिया होगा। विहार के दौरान भी गांवों और नगरों में व्याख्यान देना आचार्यों का एक दायित्व होता है। जहां तक संभव हो सके, आचार्य को व्याख्यान देना चाहिए। कोई सक्षम युवाचार्य हो तो फिर भी मान लो कुछ निश्चिंतता रह सकती है, पर युवाचार्य नहीं है तो आचार्य को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि व्याख्यान का क्रम गुरुकुलवास में ठीक चले। कभी अन्य कार्यों में व्यस्तता के कारण आचार्य व्याख्यान न दे सकें तो उन्हें योग्य व्याख्यानदाता को भेजना चाहिए। इस प्रकार स्वयं व्याख्यान देना और कदाचित् अपेक्षा हो तो दूसरों से व्याख्यान दिलवाना आचार्य का दायित्व होता है। गुरुकुलवास में व्याख्यान देने वाला भी अच्छा और योग्य होना चाहिए, जो श्रोताओं को संतोष और आध्यात्मिक आनंद दे सके। इस प्रकार प्रवचनदाता होना भी आचार्य का एक दायित्व है। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण के क्रम में कक्षाएं लगाना, शिष्यों के ज्ञान का विकास करना, आगम पढ़ाना, उसका संपादन करना, वाचना देना, ज्ञान गोष्ठियां आयोजित करना, तात्त्विक चर्चा करना—यह भी आचार्यों का काम है। गुरुदेव तुलसी को मैंने देखा, वे अकसर तात्त्विक चर्चा करते, अध्यापन करते। आगम संपादन का काम उनके वाचनाप्रमुख में होता था। आगम संपादन के क्रम में कई

बार वे स्वयं अपना सान्निध्य प्रदान करते। इस प्रकार प्रशिक्षण के संदर्भ में यह दायित्व आचार्यों का होता है।

आचार्य का आठवां दायित्व है—प्रायश्चित्त देना। साधु-साध्वियां, समण-समणियां और श्रावक-श्राविकाएं प्रायश्चित्त की भावना से आएं तो उनके अतिचारों को सुनना, समझना या पढ़ना, फिर उसके अनुसार प्रायश्चित्त देना—यह भी आचार्यों का काम है। आचार्य डॉक्टर के समान होते हैं। जैसे रोगी डॉक्टर के पास आता है तो डॉक्टर निदान के लिए उसकी समुचित जांच करते हैं, उसके पश्चात् उसकी चिकित्सा करते हैं या चिकित्सा के बारे में निर्णय लेते हैं। इसी तरह आचार्य भी चिकित्सक के समान होते हैं। वे अपने शिष्यों की बात सुनते अथवा पढ़ते हैं। क्या दोष लगा, क्या अतिचार हुआ, उसकी शुद्धि के लिए उन्हें क्या प्रायश्चित्त देना चाहिए, तप करने में अक्षम हैं तो क्या जप देना चाहिए, कौन से माध्यम से उनके अतिचारों की शुद्धि हो सकेगी, यानी वे आध्यात्मिक स्वास्थ्य लाभ कर सकें, इस दृष्टि से आचार्य चिकित्सक के रूप में अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त रूपी औषधि देते हैं, ताकि वे अतिचारमुक्त होकर शुद्ध हो सकें। इस दिशा में प्रयास करना भी आचार्यों का एक दायित्व है। आचार्य का नवां दायित्व है—साधु-साध्वियों की रिपोर्ट को पढ़ना। चातुर्मास की समाप्ति के बाद गुरु सन्निधि में पहुंचे साधु-साध्वियों की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ना, चातुर्मास में और शेषकाल में उन्होंने क्या-क्या किया, उनकी दिनचर्या कैसी रही, उसके आधार पर उनके द्वारा कृतकार्यों का आकलन करना भी आचार्यों का दायित्व होता है।

आचार्य का दसवां दायित्व है—पृच्छा करना, पूछना, आनेवाले साधु-साध्वियों के सिंघाड़ों को समय देना, एक-एक ग्रुप से बात करना। मैंने गुरुदेव तुलसी को देखा कि वे साध्वियों से दिन में प्रायः दोपहर में बात करते, उनसे पूछताछ करते और पश्चिम रात्रि में जप, माला आदि के क्रम के बाद संतों के सिंघाड़ों को बुलाकर उनसे पृच्छा किया करते थे। आचार्य महाप्रज्ञजी पश्चिम रात्रि में पृच्छा न कर पूर्व रात्रि में करते थे। किसी साधु-साध्वी को कोई काम सौंपा है तो वह काम हुआ या नहीं, इस बारे में यथासंभव पूछताछ करना भी आचार्यों का दायित्व है।

आचार्य का ग्यारहवां दायित्व यह है—मंगलपाठ सुनाना। किसी दूसरे गांव में जाने से पूर्व प्रायः श्रावक-श्राविकाएं मंगलपाठ का श्रवण करते हैं। साधु-साध्वियां भी विहार करते समय मंगलपाठ सुनाने की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार बार-बार मंगलपाठ सुनाना भी आचार्यों का एक दायित्व है। आचार्य के मुख से सुने गए मंगलपाठ का कुछ विशेष महत्त्व भी होता है। गुरुदेव तुलसी को मैंने देखा है, वे मंगलपाठ स्वयं सुनाते और कभी-कभी दूसरों से भी मंगलपाठ सुनवा देते। स्वास्थ्य आदि की अनुकूलता की स्थिति में मंगलपाठ सुनाना भी आचार्यों का दायित्व है। दर्शन-उपासना के बाद जाने वालों को, विशेष परिस्थिति में आने वालों को, किसी विशेष कार्य में प्रवृत्त होने से पहले और बीमार आदि को मंगलपाठ सुनाना भी आचार्यों का दायित्व होता है।

आचार्य का बारहवां दायित्व है—श्रावक समाज की सम्हाल करना। कोई व्यक्ति वृद्ध, रुग्ण, अक्षम है और आचार्य उसके गांव या नगर में पधारे हैं तो ऐसे अक्षम लोगों को अपेक्षानुसार चलाकर दर्शन देने जाना भी आचार्य का एक दायित्व है।

इतने सारे कार्य होते हुए भी शांत रहना, तनाव मुक्त रहना—यह भी आचार्यों का दायित्व है। व्यस्त होते हुए भी अस्तव्यस्त न होना, अपने आप में लीन रहना, अपनी साधना के प्रति यथोचित जागरूकता रखना एक बड़ी बात है। यह आचार्य का तेरहवां दायित्व होता है। इतने दायित्वों का निर्वहन करनेवाले आचार्य होते हैं। मैंने तो गुरुदेव तुलसी को सामने रखकर कई बातें बताने का प्रयास किया है। गुरुदेव तुलसी का लंबा आचार्यकाल रहा और उनका अभ्यास भी गहरा था। सुदीर्घकाल से शासन का संचालन करते-करते उनका अभ्यास परिपक्व हो गया था और वे इन दायित्वों में अपना काफी समय नियोजित करते थे। छोटी उम्र में ही वे इस कार्य में लग गए थे। बाद में उन्हें महाप्रज्ञजी के रूप में युवाचार्य मिल गए, फिर भी मैंने देखा कि युवाचार्य के होते हुए भी गुरुदेव सक्रिय रहे। ऐसे आचार्यों के लिए '**आयरियं सरणं गच्छामि**' कहा गया। प्रथम पद के प्रतिनिधि ऐसे आचार्यों की शरण में जाना बहुत सार्थक होता है।' ❖

तेरापंथ : परिचय और प्रगति

मुनि राकेश कुमार

धर्म का लक्ष्य शांति और मुक्ति की प्राप्ति है। विश्व के सभी धर्मों का जन्म इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए हुआ है, किंतु आज बहुत से धार्मिक संगठनों की दृष्टि विकृत और मलिन हो गई है, अतः वे शांति के बदले अशांति के निमित्त बन रहे हैं। मुक्ति के लक्ष्य को भूल कर वे राग-द्वेष की बेड़ियों से बंध गए हैं। जिनका प्रारंभ समाज को समाधान प्रदान करने के लिए हुआ था, आज वे स्वयं प्रश्नचिह्न बन गए हैं।

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु का चिंतन बहुत स्पष्ट था। उन्होंने धर्म-संघ का महल अध्यात्म की भित्ति पर खड़ा किया। वे सिद्धांतवादी महापुरुष थे। उन्होंने संगठन की अपेक्षा आत्मकल्याण और सत्यनिष्ठा को बहुत महत्त्व दिया। जो व्यक्ति सिद्धांतों और आदर्शों को विस्मृत कर धार्मिक संगठन की स्थापना करते हैं या उसे बढ़ावा देते हैं, वे धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने तेरह साधुओं के साथ बगड़ी (राजस्थान) में अभिनिष्क्रमण किया। उनके जीवन का ध्येय सत्य की उपलब्धि था। संप्रदाय या संगठन की स्थापना उनका मुख्य लक्ष्य नहीं था। वे विशुद्ध लक्ष्य के साथ साधना के मार्ग पर आगे बढ़े थे। उनके अनुयायी तेरह श्रावक एक बार जोधपुर की एक दुकान में धार्मिक उपासना कर रहे थे। उस दिन दीवान फतेहचंदजी का उधर आना हुआ। उन्होंने श्रावकों से वहां धर्मोपासना करने का कारण पूछा। श्रावकों ने उनकी जिज्ञासा पर आचार्य भिक्षु के अभिनिष्क्रमण का सारा प्रसंग विस्तारपूर्वक समझाया तथा यह भी बताया कि आचार्य श्री भिक्षु के साथ तेरह साधु हैं तथा यहां हम उनके अनुयायी तेरह श्रावक हैं। वहां एक भोजक कवि खड़ा हुआ था। उसने सारा वृत्तांत सुन कर एक दोहा बना दिया—

साध-साध को गिलो करै, ते आप आप रो मंत,
सुणज्यो रे 'शहर' रा लोगां, ऐ तेरापंथी तंत।

उस समय आचार्य भिक्षु वहां नहीं थे, जब उन्होंने कवि द्वारा दोहे में सहजता से प्रयुक्त तेरापंथी शब्द सुना तो उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। उन्होंने पट्ट से नीचे उतरकर भगवान महावीर को वंदना की और कहा—हे भगवन! यह तेरापंथ है, मेरा नहीं है। तेरापंथ शब्द का दूसरा अर्थ करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की आराधना करनेवाला तेरापंथी साधु होता है।

अभिनिष्क्रमण के पश्चात् आचार्य श्री भिक्षु ने वि.सं. 1817 का प्रथम चातुर्मास छोटे से गांव केलवा की अंधेरी ओरी में किया। वह स्थान उस समय भयाकुल माना जाता था। वहां रात्रि प्रवास के लिए कोई साहस नहीं करता था। आचार्य भिक्षु को वह स्थान दुर्भावना से सुझाया गया था। आचार्य भिक्षु उत्कृष्ट साधक थे। उनका लक्ष्य बहुत पवित्र था। प्रथम रात्रि में ही उन्हें एक भयावह उपसर्ग का सामना भी करना पड़ा, किंतु उनके आत्मबल से वह विघ्न भी उत्सव में परिणत हो गया। अंधेरा भी उजाले में बदल गया। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन आचार्य भिक्षु ने अपने सहयोगी संतों के साथ भाव-दीक्षा ग्रहण की और उसी क्षण से तेरापंथ धर्मसंघ की स्थापना का शुभ मुहूर्त हो गया।

तेरापंथ का इतिहास संघर्षों से भरा हुआ है। प्रारंभ से लेकर अब तक इसे नाना प्रकार के तूफानों का सामना करना पड़ा है। आचार्य भिक्षु को पर्याप्त आहार-पानी भी नहीं मिला। सांप्रदायिकता से ग्रसित लोगों ने इसकी प्रगति में विरोध-अवरोध उत्पन्न किए, फिर भी इनका प्रभाव अविचल गति से आगे बढ़ा। इसका मुख्य कारण आदर्श, निष्ठा और त्यागपरायणता है। सामान्यतः

विरोध और अवरोध प्रगति में अवरोधक होते हैं, किंतु तेरापंथ के विकास में वे और अधिक सहयोगी बने। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की संघ-व्यवस्था में अनुशासन पर विशेष बल दिया। उन्होंने अपने संविधान में एक आचार, एक विचार और एक आचार्य की परंपरा का सूत्र दिया। 'तेरापंथ की क्या पहचान, एक गुरु और एक विधान' यह सूत्र धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य के जीवन में रमा हुआ है। तेरापंथ की आचार्य परंपरा बहुत गौरवशाली है, सभी आचार्यों ने अपने कुशल नेतृत्व से संघ के विकास में योगदान किया है। युवामनीषी आचार्य श्री महाश्रमण तेरापंथ धर्म के एकादशम अधिशास्ता है। उनके नेतृत्व में सात सौ साधु-साध्वियां साधनारत हैं तथा समाज में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना हेतु प्रयत्नशील हैं।

तेरापंथ की आचार्य परंपरा में आचार्य भिक्षु, श्रीमद्जयाचार्य, आचार्य श्री तुलसी तथा आचार्य महाप्रज्ञ का आचार्यकाल बहुत तेजस्वी और क्रांतिकारी रहा। चारों आचार्यों ने दूरदर्शिता से चिंतन कर संघ के विकास हेतु नए आयामों का उद्घाटन किया। तेरापंथ के आचार्य जहां मौलिक आदर्शों के समर्थक एवं उपासक रहे हैं, वहां अंधे रूढ़िवाद और परंपरावाद के विरोधी भी रहे हैं। उन्होंने नवीनता और प्राचीनता के आग्रह को कभी उचित नहीं समझा। वर्तमान में आचार्य श्री महाश्रमण पूर्ववर्ती आचार्यों की तेजस्वी धारा को अपनी अद्भुत प्रतिभा और पुरुषार्थ के द्वारा द्रुतगति से आगे बढ़ा रहे हैं।

प्रारंभ में तेरापंथ धर्मसंघ में तीन ही तीर्थ (साधु श्रावक, श्राविका) थे। साध्वियों की दीक्षा बाद में हुई। शास्त्रीय दृष्टि से तीन से कम साध्वियों को रहना कल्पनीय नहीं है। सर्वप्रथम कुशालांजी, मटुजी व अजबूजी नाम की तीन बहिनों ने आचार्य श्री भिक्षु के सान्निध्य में साध्वी जीवन स्वीकार किया। उनका यह साहसिक निर्णय संघ के इतिहास में सदा अमर रहेगा। आज साधु-संघ की तुलना में साध्वी संघ बहुत विशाल है।

चतुर्थ अनुशास्ता श्रीमद्जयाचार्य के शासनकाल में तेरापंथ धर्म में पट्टोत्सव, चरमोत्सव व मर्यादा महोत्सव के रूप में तीन महोत्सवों का प्रारंभ हुआ। वर्तमान आचार्य का जो आचार्य पदारोहण का दिवस होता है पट्टोत्सव उसी दिन मनाया जाता है। चरमोत्सव तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के स्वर्गारोहण दिवस-भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी के दिन आयोजित होता है। मर्यादा महोत्सव आचार्य श्री भिक्षु द्वारा निर्मित संघीय संविधान की स्मृति में माघ शुक्ला सप्तमी के दिन आयोजित होता है। तीनों ही महोत्सवों से संघीय विकास में बहुत बड़ा योगदान प्राप्त हुआ है। मर्यादा महोत्सव को हम मर्यादा और अनुशासन का पावन-पर्व कह सकते हैं। इस अवसर पर संघ का भावी कार्यक्रम निर्णीत और घोषित होता है। सैकड़ों साधु-साध्वियां सुदूर प्रदेशों से विहार कर मर्यादा महोत्सव में सम्मिलित होते हैं। आचार्य श्री तुलसी का आचार्यकाल विकास का पर्याय रहा, इसलिए उनके आचार्य पद विसर्जन के बाद आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने उनके पट्टोत्सव को स्थाई रूप प्रदान करते हुए विकास महोत्सव का प्रारंभ किया।

तेरापंथ धर्मसंघ में जैन आगमों के अध्ययन की प्रारंभ से ही महत्त्वपूर्ण परंपरा रही है। आचार्य भिक्षु ने आगमों के महासागर का गहरा अवगाहन किया। आगमों की टीकाएं संस्कृत भाषा में हैं। इसलिए चतुर्थ आचार्य जयाचार्य के मन में संस्कृत के अध्ययन की ओर विशेष रुचि जागृति हुई। जयपुर में एक विद्यार्थी के सहयोग से प्रारंभिक अध्ययन कर संघ में संस्कृत भाषा का उन्होंने बीजारोपण किया। उनके उत्तराधिकारी पांचवें आचार्य मघवागणी ने उसको पल्लवित किया। आठवें आचार्य श्री कालूगणी और आचार्य श्री तुलसी के अनवरत सिंचन से देव भाषा का वह बीज शतशाखी वटवृक्ष के रूप में विकसित हुआ है।

तीन-चार दशक पूर्व साहित्य का विकास कम था। आचार्य श्री तुलसी, आचार्य श्री महाप्रज्ञ व आचार्य श्री महाश्रमण की प्रेरणा से आज तेरापंथ धर्मसंघ में साहित्य की सुरसरिता प्रवाहित हो रही है, जिसमें आप्लावित होकर शिक्षित-अशिक्षित सभी अनुपम तृप्ति और आनंद का अनुभव करते हैं। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के साहित्य से देश-विदेश के शीर्षस्थ बुद्धिजीवी अत्यंत प्रभावित हैं। संघ के अनेक साधु-साध्वियां शतावधानी और आशुकवि हैं। अवधान विद्या मानसिक एकाग्रता और स्मरण-शक्ति का अद्भुत चमत्कार है। आशु कविता में तत्काल दिए गए विषय पर नए पदों और श्लोकों का निर्माण होता है। पूना और वाराणसी में आचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा वहां के

मूर्धन्य संस्कृत विद्वानों की परिषद् में प्रस्तुत आशुकाव्य से श्रोताजन आश्चर्य में डूब गए और दांतों तले अंगुली दबाने लगे।

योग्य, योग्यतर व योग्यतम के क्रम में साधु-साध्वियों व मुमुक्षु साधकों के लिए अध्ययन का एक व्यवस्थित पाठ्यक्रम बना हुआ है। तेरापंथ धर्मसंघ में उसके आधार पर व्यवस्थित रूप से शिक्षा प्रदान की जाती है व छोटे-बड़े सदस्यों के सर्वांगीण विकास के लिए जागरूकता से ध्यान दिया जाता है।

जैन साधना में ध्यान का बहुत अधिक महत्त्व है। आगम साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मध्य युग में बाहरी तप और अनुष्ठान का प्रभाव अधिक हो गया, जिससे ध्यान की परंपरा शिथिल और क्षीण हो गई। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने ध्यान की मंद परंपरा को नई गति प्रदान की। उन्होंने अपने अनुभव से प्रेक्षाध्यान का वैज्ञानिक स्वरूप समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। चेतना के रूपांतरण व शारीरिक व मानसिक तनावों और रोगों से मुक्ति के लिए उसका प्रयोग सफल व प्रमाणित हो रहा है। आचार्य श्री के मार्गदर्शन में स्थान-स्थान पर शिविरों का आयोजन होता है जिनमें साधक और साधिकाओं को ध्यान-साधना का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया जाता है।

वर्तमान में अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान तेरापंथ धर्मसंघ में ये दो महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक उपक्रम हैं, जिनके माध्यम से नैतिक और आध्यात्मिक जागरण के प्रयत्न सबल और सफल हो रहे हैं। आचार्य श्री महाश्रमण की राष्ट्रव्यापी पद-यात्राओं से गांव-गांव और नगर-नगर में अनुकंपा और नैतिकता की ज्योति प्रज्वलित हो रही है। विद्यार्थी, शिक्षक, व्यापारी व राज्य कर्मचारी सभी इस महायज्ञ में अपनी आहुति दे रहे हैं। राष्ट्र के शीर्षस्थ नेता आचार्य श्री तुलसी के विचारों और कार्यक्रमों से बहुत प्रभावित हुए, उन्होंने आचार्य श्री तुलसी की 'अशांत विश्व को शांति का संदेश', नामक पुस्तक पढ़ी थी और उस पुस्तक में अपने हाथ से लिखा था—कितना अच्छा होता यदि संसार इस महापुरुष के विचारों का अनुसरण करता।

देश-विदेश के कई शिक्षा-शास्त्री, वैज्ञानिक, साहित्यकार और कई समाजसेवी कार्यकर्ता आचार्यश्री महाश्रमण से समय-समय पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के संबंध में मार्गदर्शन प्राप्त करते रहते हैं। नास्तिक और साम्यवादी विचारधारा के व्यक्ति भी अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के कार्यक्रमों से प्रभावित हैं।

जयाचार्य ने राजस्थानी भाषा में अनेक जैन-आगमों का पद्यबद्ध अनुवाद किया। भगवती सूत्र का लाखों राजस्थानी पदों में किया हुआ उनका अनुवाद भगवती की जोड़ के नाम से प्रसिद्ध है। राजस्थानी साहित्य का वह सबसे बड़ा ग्रंथ माना जाता है। आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा से जैन आगमों के पाठों का संशोधन, संपादन व हिंदी भाषा में अनुवाद और विवेचन का कार्य लगभग पांच दशकों से तेरापंथ धर्मसंघ में निरंतर हो रहा है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ इसके प्रधान संपादक थे। वर्तमान में आचार्य श्री महाश्रमण के सान्निध्य में आगम संपादन का कार्य प्रगति की ओर है। अनेक साधु-साध्वियां पाद विहार में भी आगम साहित्य के कार्य और स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं।

दीक्षार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन दीक्षित होने से पूर्व पारमार्थिक शिक्षण संस्था में साधना करते हैं। तेरापंथ धर्मसंघ के विकास में इस आदर्श संस्थान का महान योगदान है। त्यागी और अनुभवी संरक्षकों के मार्गदर्शन में इस संस्था का सारा कार्यक्रम संयम और अनुशासन की भावना से ओत-प्रोत है, जिसे देख कर कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इसी क्रम में शिक्षा, साधना, शोध और सेवा के विकास की दृष्टि से आचार्य श्री तुलसी की जन्मभूमि लाडनू में जैन विश्व भारती नामक संस्थान का निर्माण हुआ है। तेरापंथ की प्रगति के मूर्तरूप का दर्शन जैन विश्व भारती के माध्यम से साक्षात् होता है। जैन विश्व भारती का वातावरण तपोवन के समान है। देश-विदेश के सैकड़ों व्यक्ति प्रतिवर्ष धर्म, संस्कृति और साधना का प्रकाश वहां से प्राप्त करते हैं।

आचार्य श्री तुलसी की दूरदर्शिता से मुनि दीक्षा के पूर्व समण श्रेणी का प्रारंभ हुआ। जिसके माध्यम से देश-विदेश में धार्मिक संस्कारों के बीजारोपण और उन्नयन का अद्भुत कार्य हो रहा है। समण श्रेणी की मुक्त कंठ से प्रशंसा हो रही है। आचार्य श्री महाश्रमण की विशेष प्रेरणा से श्रावक समाज की एक विशिष्ट श्रेणी उपासक श्रेणी का विकास हुआ है। उपासकों द्वारा छोटे-छोटे क्षेत्रों में पर्युषण-आराधना का सुंदर क्रम चलता है। ❑

शुचिता का एक नाम भिक्षु

मुमुक्षु शांता

मर्यादाएं वही बनाई जाए जो निभ सकें—तत्काल आचार्य महाप्रज्ञ ने सोच की दिशा बदली यह कहते हुए कि 'मर्यादाएं कभी निभाने के लिए नहीं बनतीं। उनके साथ निष्ठा जुड़ी होती है तभी वे आचार की आधारशिला बनती है। आचार में आस्था होगी तो मर्यादा अनुशासन लाएगी, अन्यथा नियम और कानून निष्ठा के अभाव में समय से पहले ही टूट जाएंगे।' इस व्याख्या में आचार्य भिक्षु का संपूर्ण जीवन-दर्शन प्रतिध्वनित हो उठा।

आचार्य भिक्षु ने जिस संघ की शुरुआत की, उसकी सर्वोच्चता से स्वयं को नहीं जोड़ा। श्रद्धा और समर्पण के साथ सत्य की उपासना में सब कुछ न्योछावर करते हुए कहा—हे प्रभो! यह तेरापंथ है। प्रभु के पावन पथ पर चलने वालों का एक काफिला बना, संयम साधना की प्रायोगिक भूमिका बनी, संघीय जीवन शुरू हुआ। संघ का आधार बना एक नेतृत्व, एक विधान और एक प्ररूपणा।

एकतंत्रीय अनुशासना में भी उन्होंने सबको समान सोचने का अधिकार दिया। मर्यादाओं को स्वीकृति मिली, पर सबके हस्ताक्षर होने के बाद। कहीं कोई प्रलोभन, भय, दबाव, बलप्रयोग या स्वार्थ नहीं। चिंतनपूर्वक सबका समर्थन जुड़ा तब सर्वमान्य संविधान बना। जो भी साधु-साध्वी बने उनकी श्रद्धा जिनवाणी में थी, निष्ठा गुरु में थी और आत्म-रमण साधुत्व में था। यही साधुता की शुचिता तेरापंथ का प्राण बनी।

आचार्य भिक्षु उपादान की क्षमता पर विश्वास करते थे, इसलिए उसकी शुद्धता के संरक्षण में अनगिनत संघर्षों के बावजूद वे निमित्तों से नहीं हारे जबकि आज निमित्तों के आगे हर कदम पर उपादान हार जाता है। उन्होंने शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन की महत्त्वपूर्ण बात कही।

हम एक स्वस्थ समाज की संरचना चाहते हैं, पर उसके लिए साधन गलत चुनते हैं, व्यक्ति गलत चुनते हैं, यहां तक कि जीवनशैली और उसके मानक भी गलत चुनते हैं तब भला परिणाम कैसे सही मिल सकेगा?

यदि शुद्ध साध्य के लिए सही निमित्तों की खोज और उसका सही उपयोग होता तो भारत में अब तक नशाबंदी हो चुकी होती। हिंसा, क्रूरता, आतंक, भय, असुरक्षा जैसे परिणामों से आदमी का जीना दूभर नहीं होता। पदलिप्सा, दलबंदी, औरों को गौण कर स्वयं की स्वार्थपूर्ति जैसी प्रवृत्तियों को अवकाश ही नहीं मिलता। आजीविका के साधन नैतिकता के नजदीक होते।

आचार्य भिक्षु ने हिंसा और अहिंसा की भेदभूमि का सम्यग् बोध दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा—'हिंसा से कभी हिंसा मिटती नहीं, जबकि आज हम हर समस्या का समाधान हिंसा में खोजते हैं। हिंसा के रास्ते पर चलकर मंदिर तक पहुंचने की सोच को सही मान बैठते हैं। हम भूल जाते हैं कि खून से रंगा कपड़ा खून से नहीं धुल पाता।

आचार्य भिक्षु ने अपने संघ में अध्यात्म के साथ स्वस्थ समाजवाद खड़ा किया। संविभाग का आदर्श जीवन्त कर समानता, सह-अस्तित्व और सौहार्द एवं सद्भाव का बीज बोया। श्रम, सेवा, सहयोग, सुविधा सबमें सबका समान संविभाग रखा, इसलिए वैयक्तिक आकांक्षाओं को विराम मिल गया। समानता के इस जीवन-सूत्र ने मानवीय एकता, सार्वभौम अहिंसा और सापेक्ष दृष्टिकोण को विकसित होने का अवसर दिया।

समानता का अधिकार भारत के संविधान में भी है, पर कई दृष्टियों से वह मात्र आलेख बनकर रह गया है। नेतृवर्ग एवं अधिकारियों ने सिर्फ अपना सुख, स्वार्थ, सुविधा और सत्ता देखी। औरों की अपेक्षाएं, दुःख-दर्द और दिक्कतें क्या हैं—इन पर उनकी दृष्टि ही नहीं गई। संविभाग का सुख सब तक कैसे पहुंचे जबकि किसी का वैभव दूसरे के अभावों की बुनियाद पर खड़ा हो?

आचार्य भिक्षु ने अपने उद्देश्यों की सफलता में जहां अध्यात्म साधना को मूल्य दिया वहां व्यवहार की भी कभी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने बुराइयों को कभी नहीं सहा। चाहे कोई शिष्य कितना ही अनुग्रहपात्र या क्षमताओं में वरिष्ठ क्यों न हो, छोटी-सी भूल का भी उसे दंड मिलता। औरों का छिद्रान्वेषण करने की मनोवृत्ति को वे साधुता की नौका में हुए छोटे से छेद की तरह देखते थे। उनकी नीति थी कि देखना है तो स्वयं के दोषों को देखो। दोषों का प्रचार-प्रसार कर मन और माहौल को मैला करना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। इसीलिए उन्होंने ऐसे संदर्भों में गलती करने वालों के साथ-साथ गलती फैलाने वालों को भी अपराध का भागीदार माना।

शुद्ध आचार, विचार और व्यवहार से जुड़ी आचार्य भिक्षु की ऐसी अनेक चारित्रिक व्याख्याएं हैं, जिनमें जीवन और दर्शन का सही दृष्टिकोण सिमटा हुआ है। उनमें जागतिक समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है। जरूरत है हम आचार्य भिक्षु को एक बार पुनः पढ़ें, समझें और जीएं। ❑

आज की कीमत : एक अनुचिंतन

श्री जेठमल भंसाली

जो कुछ है सो आज है। कल जो था वह तो बीत चुका। अच्छा रहा या बुरा, वह तो चला गया। मैं रोया या हंसा, सुख पाया या दुःख पाया अब उस पर सोचना फिजूल है। अब तो मेरे सामने सिर्फ आज है और उस आज को मुझे सुंदर बनाना है। आज मुझे ज्यादा से ज्यादा आनंद मनाना है। आज का अच्छे से अच्छा उपयोग करना है। आनेवाले कल की मैं क्यों सोचूं? कल कब आएगा और आयेगा भी या नहीं, यह भी तो निश्चित नहीं। एक क्षण का भी तो पता नहीं। कल तो बहुत दूर की बात रही। मेरा काम है सिर्फ आज की बात सोचना, आज का काम करना। यदि मैं आज ठीक काम करता हूं तो मेरा आनेवाले कल स्वयं अच्छा बन जाएगा। तो आज मुझे अपनी सारी मानसिक शक्ति को केंद्रित करके अपना काम सुचारु रूप से अच्छे ढंग से करना है। इस प्रकार से भूतकाल की चिंता न करते हुए और भविष्य के सुनहरे स्वप्न व भयानक कल्पित दृश्यों में अपने को न खोते हुए सिर्फ आज का महत्त्व मुझे आंकना है और आज का अच्छा से अच्छा उपयोग करना है। मानव जीवन की सफलता का यही तो रहस्य है। जिन मानवों ने इस आज के रहस्य को समझा और अपनाया वे अमर बन गए। भगवान महावीर ने इस रहस्य को अपनी आत्मा में अनुभव किया और अपने प्रिय शिष्य को बताया—'समयं गोयम मा पमायइये' हे गौतम! क्षण मात्र भी प्रमाद मत करो, आलस मत करो, समय बरबाद मत करो। अपने आपको हर समय सत्कार्य में लगाए रखो। आज का सुंदर उपयोग करो।

क्राइस्ट ने अपने शिष्यों से कहा—तुम लोग भगवान से प्रार्थना करो कि हे भगवान आज भर हमें रोटी दे —Give us this day our daily bread. इसका मतलब यह हुआ कि हमारी जरूरी आवश्यकता सिर्फ रोटी है, भोजन है और वह भी सिर्फ आज के लिए। कल हमें रोटी मिले या न मिले, इस भावना से रोटियों का संग्रह या ढेर नहीं चाहिए। अतः हे भगवान! सिर्फ आज हमारा पेट अच्छी तरह से भर दो ताकि हम अपना काम आज अच्छी तरह से कर सकें। 'भूखे भजन न होंहि गोपाला।'

खाली पेट से धार्मिक क्रिया व भजन भी नहीं होता। मानव की सबसे पहली आवश्यकता रोटी की है और वह भी सिर्फ आज के लिए। पशु का पेट भरा कि वह मस्त। कल की उसे चिंता नहीं, पर मानव को संतोष कहां इतने से? वह तो आज का पेट भरने के साथ-साथ

अपनी सात पीढ़ियों तक का पेट भरने की भावना से रोटियों के ढेर के ढेर जमा करके ऊपर में गोदरेज का मजबूत ताला ठोंकना चाहता है। नतीजा यह हुआ कि इस प्रकार की संग्रह भावना के कारण मानव का मस्तीपन गायब हो गया और वह कल की चिंता में सूखने लगा।

Lead kindly light. Keep thou my feet, I do not ask to see the distant scene, one step enough for me.

हे भगवान! मुझे ज्योति दो। प्रकाश दो। मेरा पथ-प्रदर्शन करो। मेरे डगमगाते पैरों को इतनी शक्ति दो ताकि मैं आज की वर्तमान समस्या को हल कर सकूं। मैं दूर की बात, भविष्य की बात सोचना नहीं चाहता। मुझे तो सिर्फ मेरा सबसे नजदीकी कदम देखने भर की शक्ति दो। सिर्फ आज की बात सोचने की सामर्थ्य दो। आज मेरा काम ठीक हो गया तो कल ठीक होगा ही।

मेरी जो जहाज डूब चुकी, मैं किसी भी हालात में ऊपर ला नहीं सकता। जो जहाज निश्चित रूप से डूबनेवाली है उसे मैं डूबने से रोक भी नहीं सकता। लेकिन नाविक होने के नाते आज मुझे अपनी जहाज खूब सावधानी से चलानी है, खूब खट कर पूरी ईमानदारी और सचाई के साथ अपना काम करना है। यदि आज मैं ऐसा कर लेता हूं तो फिर भूत और भविष्य की चिंता में अपने को क्यों फंसाऊं?

आज सुबह मैं उठा। सुनहरी प्रभात, मंद-मंद हवा के झोंके। सामने कल-कल नाद करती हुई सुंदर सरिता। चमकती हुई सूर्य की किरणें। आकाश का बदलता हुआ अनुपम दृश्य। कर्म प्रभाव से या अच्छे संयोग से मैं एक मानव बना और आज का ऐसा आकर्षक दिन मुझे मिला। ऐसे सुंदर वातावरण में काम करने का मौका मुझे मिला। कैसा सौभाग्यशाली हूं मैं? फिर सोचा—क्या काम करूं? कौन-सा काम करूं? दिमाग के सामने बीसियों काम आए। सबको आज करना और वह भी सूर्यास्त के पहले पहले। किसे छोड़ूं, किसे करूं? कैसे करूं? विकट समस्या थी सामने।

एकाएक नजर गई मां के सामने। मेरी बूढ़ी मां इस सुंदर प्रभात में सामायिक कर रही थी। भगवान के भजन में तल्लीन थी। उसके सामने एक बालू की घड़ी भरी थी और बालू का एक-एक कण, एक-एक दाना उस घड़ी की छोटी-सी गर्दन द्वारा नीचे के भाग में गिर रहा था, बड़े व्यवस्थित ढंग से एक बार में सिर्फ एक दाना One at a time लाखों करोड़ों बालू के कण थे। सब व्यवस्थित रूप से आगे बढ़ रहे थे और अपनी-अपनी बारी के अनुसार उस गर्दन से निकल कर नीचे के हिस्से में गिर रहे थे।

मेरी समस्या हल हो गई। काम करने का तरीका मुझे मिल गया। आज के बीस काम थे मेरे सामने। महत्त्व के अनुसार मैंने उन कामों को छांटा। एक समय में एक काम की नीति अपनाई। कार्यक्रम बनाया। सारे काम आसानी से हो गए।

अतः आज के लिए चाहे कितने ही काम हों, इस बालू घड़ी के दृश्य की कल्पना करें और व्यवस्थित ढंग से एक-एक काम करते जाएं, सारे काम पूरे हो सकेंगे। अगर सारे काम एक साथ करने की चेष्टा करेंगे तो कोई भी काम पूरा नहीं हो सकेगा। सब लटकते अधूरे ही रह जाएंगे। यदि बालू के सब दाने एक साथ उस पतली गर्दन से निकलने की चेष्टा करते और आपस में थर्डक्लास के रेल मुसाफिरों की तरह डिब्बों में चढ़ते समय धक्का-मुक्की करते तो वह कांच की घड़ी ही फूट जाती।

कठिन-से-कठिन काम भी यदि आज आपके सामने हो, तो भी आज उसे करना ही है—ऐसा दृढ़ मानसिक संकल्प करें। वह काम आज होकर ही रहेगा। मानव आज के काम से कभी थकता नहीं। वह तो तब थकता है जब वह बीते कल के कामों का भारी बोझ तथा आनेवाले कल के कामों का कल्पित बोझ अपने दिमाग पर अपने सिर पर लाद कर आगे बढ़ना चाहता है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल का भारी बोझ वह किसी भी हालत में नहीं सम्हाल सकता।

मुझे तो सिर्फ आज भर का काम करना है। मैं करके रहूंगा। दृढ़ संकल्प मैंने कर लिया है। बीते कल की चिंता मैं क्यों करूं? आनेवाले कल की चिंता में अपने को क्यों फंसाऊं? मेरे सामने तो सिर्फ आज का काम है और चाहे वह कितना ही कठिन हो, मैं कर ही लूंगा और रात में आनंद के साथ गहरी नींद लूंगा।

मानव का स्वभाव है—वह आकाशकुसुम की कल्पना करता है और उन फूलों को सूंघना चाहता है। उनका उपभोग करना चाहता है। अपने निजी बगीचे में खिले हुए सुंदर गुलाब के फूलों में वह रस नहीं लेता। आनंद नहीं मानता। वह अपने प्रिय, परिवार, स्त्री, पुत्र, मां-बाप आदि के प्रेमपूर्ण व्यवहार में आनंद न मान कर स्वर्ग की कल्पित देवियों के साथ आनंद भोगना चाहता है। नतीजा यह होता है कि पारिवारिक प्रेम का आनंद भी उसे मिलता नहीं और स्वर्ग सुख भी उसके हाथ लगता नहीं। वर्तमान को जो ठुकरा देता है उसका सदुपयोग नहीं करता और सिर्फ भविष्यत के सुनहरे स्वप्न देखा करता है, उसके कुछ भी हाथ नहीं लगता।

याद रखें, आज का दिन तो सिर्फ आज ही के लिए मिला है। वह कभी फिर वापस लौट कर आने वाला नहीं। भागा जा रहा है वह तेजी से और तू उज्ज्वल भविष्य की कल्पना में तल्लीन! उठ, काम कर। भविष्य की चिंता न कर। सिर्फ आज की सोच। कितना सुंदर दिन मिला तुझे आज काम करने को। अच्छे से अच्छे काम कर आज। मन में दृढ़ संकल्प करें कि —

1. आज मैं परम प्रसन्न रहूंगा। खुश रहूंगा।
2. आज मैं अपने प्रिय परिवार—मां, बाप, स्त्री, पुत्र, भाई-बहिन आदि के साथ बड़े प्रेम का व्यवहार करूंगा। किसी बात पर उनके साथ लड़ाई-झगड़ा नहीं करूंगा।
3. आज मैं अपने व्यापार-धंधे व पेशे को ईमानदारी और सचाई से चलाऊंगा। ग्राहकों को धोखा नहीं दूंगा। उनके साथ विश्वासघात नहीं करूंगा और किसी वस्तु में मिलावट नहीं करूंगा। झूठा माप-तौल नहीं करूंगा। अपने कर्मचारियों के साथ अच्छा व्यवहार रखूंगा।
4. आज मैं अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखूंगा। खान-पान व भोजन में संयम रखूंगा। ऐसा कोई काम नहीं करूंगा जिससे मेरे स्वास्थ्य को जरा-सा भी नुकसान पहुंचे।
5. आज मैं अपने मानसिक संतुलन को हर समय मजबूती के साथ कायम रखूंगा। छोटी-मोटी बातों को लेकर उत्तेजित नहीं होऊंगा। हर समय मन को अच्छे विचारों में लगाए रखूंगा। मानसिक एकाग्रता बनाये रखते हुए काम करूंगा।
6. आज मैं सब मित्रों, सब परिचितों या दूसरे व्यक्तियों के साथ प्रेमपूर्वक हंसते हुए बात करूंगा। उनकी निंदा, आलोचना नहीं करूंगा। उनके बीच प्रकट नहीं करूंगा।
7. आज मैं अपना एक प्रोग्राम—कार्यक्रम बनाऊंगा। दिनभर के कामों की एक सूची बनाऊंगा—कौन काम किस समय पर करना है और इस सूची के अनुसार पूरी लगन के साथ काम करूंगा।
8. आज मैं कठिन से कठिन काम भी होगा तो उसे करके रहूंगा। रुकनेवाला मैं नहीं। हिम्मत हारने-वाला मैं नहीं।
9. आज मैं आधा घंटा तक आत्म-चिंतन करूंगा। अपनी बुराइयों-गलतियों का, भूलों का चिंतन करूंगा। उनको खोजूंगा और मिटाने की चेष्टा करूंगा। आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत के आदर्शों के अनुसार चलते हुए काम करूंगा। 'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है—इस वाक्य को हर समय ध्यान में रखते हुए अपना काम करता रहूंगा। आज की कीमत मैंने समझ ली है और आज को मैं सफल बना कर रहूंगा। ❖

निमित्त व उपादान के अंतःसंबंध : एक सूक्ष्म दृष्टि

डॉ. अनेकांत कुमार जैन

दर्शन जगत में कारण-कार्य व्यवस्था हमेशा एक विमर्शनीय विषय रहा है। ईश्वरवादी तो इस जगत को एक कार्य मानकर कारण की खोज ईश्वर तक कर डालते हैं। जैनदर्शन ने कारण, कार्य-मीमांसा पर बहुत गहरा चिंतन किया है। कार्योत्पत्ति में पांच कारणों के समवाय की घोषणा करते हुए जैनाचार्य वैज्ञानिकता का परिचय तो देते ही हैं, साथ ही अकर्तृत्व के सिद्धांत की पुष्टि भी करते हैं। ईसा की दूसरी-तीसरी शती के महान आचार्य सिद्धसेन सन्मतिसूत्र में लिखते हैं—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्त।। 3/53।।

इसमें काल, स्वभाव, नियति, निमित्त (पूर्वकृत) और पुरुषार्थ–इन पांचों से किसी कार्य की उत्पत्ति होती है—यह स्वीकार किया गया है। इन पांचों में से किसी एक कारण को ही कारण मान लेना एकांत है, मिथ्यात्व है। पांचों को बराबर महत्त्व देकर उन्हें कारण मानना अनेकांत है, सम्यक्त्व है।

पूज्य आचार्यश्री विद्यानंदजी मुनिराज प्रायः एक वाक्य अनेकांत-स्याद्वाद दृष्टि से कहते हैं—निमित्त कुछ करता नहीं, निमित्त के बिना कुछ होता नहीं। यह वाक्य हमें वस्तु स्वभाव समझाने का प्रयास कर रहा है। मैं मानता हूं—जो यह कहता है कि निमित्त से कुछ नहीं होता, वह जैनदर्शन को नहीं जानता और जो यह कहता है कि निमित्त ही सब कुछ करता है, वह भी जैन दर्शन को नहीं जानता।

यहां धैर्य से समझने की आवश्यकता है। प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना उपादान होता है। उपादान में शक्ति न हो, क्षमता-योग्यता न हो तो लाखों-करोड़ों निमित्त भी मिल जाएं, आ जाएं तो भी द्रव्य को अपने अनुरूप परिणाम नहीं दे सकते। इसीलिए कहा गया है कि निमित्त कुछ करता नहीं। दूसरी तरफ उपादान में कितनी ही सामर्थ्य हो यदि निमित्त उपस्थित नहीं है तो वह परिणमन कर ही नहीं सकता। इसीलिए कहा है कि निमित्त के बिना कुछ होता नहीं। ये दोनों बातें सही हैं। हमें अनेकांत दृष्टि से विचार करना चाहिए।

वर्तमान में समाज में दो तरह के लोग दिखाई दे रहे हैं जो अपनी रुचि और प्रियता के कारण किसी एक को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे दो तरह के लोग निम्न प्रकार से हैं—

1. निमित्त प्रिय लोग, 2. उपादान प्रिय लोग।

1. निमित्त प्रिय लोग—

ये वे लोग हैं जिन्हें निमित्त के गीत गाने में आनंद आता है। मजबूरी में ये 'उपादान' की हां तो भरते हैं, पर उस पर ज्यादा ध्यान नहीं देते। बाहरी क्रियाकांडों से ही कल्याण मानने के कारण रात-दिन उसी में मगन रहते हैं, आत्मा की शुद्धता और उपादान की तरफ देखने या विचार करने का समय ही नहीं निकाल पाते हैं।

2. उपादान प्रिय लोग—

ये वे लोग हैं जो बाह्य क्रियाकांडों में आलसी होते हैं और उपादान के ही गीत गाकर निमित्त को ज्यादा महत्त्व नहीं देते। कई शास्त्र-प्रमाण देने पर निमित्त का निषेध तो नहीं कर पाते हैं, किंतु उपादान के आगे उसे कुछ खास नहीं समझते हैं। कई बार तो अतिरेक में 'निमित्त' की सत्ता तक को चुनौती दे डालते हैं।

हम अपनी निजी प्रियता-अप्रियता के कारण रुचि-अरुचि के कारण ही वस्तु का जो मूल स्वभाव है वह समझ नहीं पाते हैं। उसका कारण यह है कि मनुष्य

स्वभाव से कर्मशील होता है और हम क्या करें? की हड़बड़ीवाली जिद उसे पहले हम क्या व कैसे जानें, समझें? से कोसों दूर कर देती है। यदि हम कुछ समय के लिए क्या करें? वाली कर्तृत्त्व बुद्धि को दूर कर दें और पहले सिर्फ सिद्धांत को और उसकी निरूपण-शैली को समझने की कोशिश करें तो शायद क्या करें? का समाधान मिल सकता है।

स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र ने 'अनेकांतोप्यनेकान्त' कह कर 'अनेकान्त' को भी अनेकांत स्वरूप बतलाया है। निमित्त और उपादान इन दोनों को स्वीकारना अनेकांत दृष्टि है और किसी एक को ही मानकर दूसरे का सर्वथा निषेध कर देना एकांत दृष्टि है। यह तो सही है, पर निमित्त में भी एकांत और अनेकांत दोनों घटित हो सकते हैं, और अकेले उपादान में भी धैर्य के साथ थोड़ा गहराई में जाएं तो शायद कोई नई बात समझ में आ जाए।

निमित्त संबंधी अनेकांत–

जो अनेकांत की अस्ति-नास्तिवाली स्याद्वाद सप्तभंगी को जानते हैं, वे विचार करें कि निमित्त और उपादान, यह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अतः–

(1) दोनों पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से अस्ति रूप हैं और दूसरे के स्वरूप से नास्ति रूप हैं।

(2) अतः निमित्त स्वरूप से अस्तिरूप है और पररूप से नास्ति रूप है।

(3) अतः उपादान में निमित्त का अभाव है, इस अपेक्षा से उपादान में निमित्त कुछ नहीं कर सकता।

निमित्त निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नहीं करता, यह निमित्त का अनेकांत स्वरूप है। इस माध्यम से निमित्त का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

निमित्त संबंधी एकांत–

यदि कोई माने निमित्त निमित्त का कार्य भी करता है और निमित्त उपादान का कार्य भी करता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपने स्वरूप से अस्ति रूप है और पररूप से भी अस्ति रूप है। तब निमित्त पदार्थ में अस्ति, नास्ति रूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नहीं हुए, इसीलिए ऐसा मानना एकांत है।

उपादान संबंधी अनेकांत–

जिस प्रकार निमित्त भिन्न पदार्थ है उसी प्रकार उपादान भी भिन्न पदार्थ है—

(1) अतः उपादान स्वरूप से है, पररूप से नास्ति रूप है।

(2) अतः उपादान उपादानरूप से है, निमित्त रूप से नास्ति है।

(3) अतः निमित्त में उपादान का अभाव है, इस अपेक्षा से निमित्त में उपादान कुछ नहीं कर सकता।

उपादान उपादान का कार्य करता है, निमित्त का कार्य नहीं करता। यह उपादान का अनेकांत स्वरूप है। इस माध्यम से उपादान का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

उपादान संबंधी एकांत–

यदि कोई माने उपादान उपादान का कार्य भी करता है और उपादान निमित्त का भी कार्य करता है तो इसका भी यही अर्थ हुआ कि उपादान स्वरूप से अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है। तब उपादान पदार्थ में अस्ति-नास्ति रूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म घटित नहीं हुए, अतः ऐसा मानना एकांत है।

निष्कर्ष यह है कि सबसे पहले हम निमित्त और उपादान इन दोनों की ही स्वयं-स्वयं में पृथक्-पृथक् पूर्ण स्वतंत्र सत्ता समझ लें, फिर इन दोनों के आपसी संबंधों की खिचड़ी पकाएं। इतना समझ लेने पर ही कुछ समाधान की तरफ आगे बढ़ सकते हैं।

निष्कर्ष–

मैं मानता हूं–इन तथ्यों को समझने के लिए आग्रह-रहित अत्यंत धैर्य की आवश्यकता है। निमित्त उपादान में कुछ करता है या नहीं? ये दोनों ही बातें चिंतन सापेक्ष हैं, दार्शनिक दृष्टि तो यही है कि निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य है, किंतु आध्यात्मिक दृष्टि के अपने अलग मानदंड हैं, अध्यात्म में सूक्ष्मातिसूक्ष्म-

चिंतन करके जीवन अपने पौरुष को पूर्ण स्वतंत्र देखता है। परम शुद्ध स्वरूप निमित्त का मुहताज नहीं है। शुद्ध द्रव्य दृष्टि की सचाई यह है कि निमित्त का निषेध नहीं वरन् उसका स्वरूप समझकर उसकी गुलामी से इनकार कर देना। कथन तो यहां तक है कि निमित्त स्वतः अनुकूल परिणमन करेंगे, किंतु तभी जब दृष्टि स्वभावसन्मुख होगी। निमित्त की सत्ता को स्वीकारना, किंतु इस स्वीकारोक्ति में उपादान की स्वतंत्रता को पराधीन कर देना संभवतः न्याय नहीं। यही अपेक्षा समयसार को भी दृष्टिप्रधान ग्रंथ के रूप में मान्यता देती है।

जरा सोचें—द्रव्य में किस समय परिणमन नहीं है? जगत में किस समय निमित्त नहीं है? हमारे मानने या न मानने से वस्तु स्थिति तो बदलती नहीं है। स्पष्ट है कि जगत के प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है तब फिर चिंतन करें कि इस निमित्त के कारण यह हुआ, यह बात कहां तक टिकती है? और निमित्त न हो तो नहीं हो सकता, यह प्रश्न भी कहां तक टिकता है? यहां कार्य होने में और निमित्त होने में कहीं भी समय भेद नहीं है।

यहां निमित्त का अस्तित्व कभी भी नैमित्तिक कार्य की पराधीनता नहीं बतलाता है। वह मात्र अपनी अपेक्षा नैमित्तिक कार्य को प्रकट करता है, जैसे—पूछा जाए कि निमित्त किसका? तब उत्तर दिया जाएगा कि जो नैमित्तिक कार्य हुआ उसका। यह सब बातें दृष्टि की हैं। हम संयोगी दृष्टि से भी देख सकते हैं, वियोगी दृष्टि से भी।

अनेकांत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह है कि वहां मुख्यतया गौणता का चिंतन उपादेयता और हेयता के रूप में होने लगता है। यहां आत्मानुभव की प्रबल विधेयात्मकता शेष समस्त बंधन स्वरूप प्रतीत होनेवाले तत्त्वों के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति का सहज कारण बन जाती है।

सिद्धांत तथा शास्त्रीयता का सहारा लेकर वस्तुरूप को तो यहां भी समझा जाता है, किंतु उसमें से आत्म-साधना में जो साधक तत्त्व हैं उनको उपादेय तथा शेष अन्य को हेय बतलाया जाता है। इस क्षेत्र में सार-सार को गहि लहे, थोथा देइ उड़ाय—वाली सूक्ति का सहारा लिया जाता है। यहां जिसे हेय करना है, अतिरेक में उसके प्रति निषेध की भाषा भी मुखरित होने लगती है जो विवाद उत्पन्न करती है। पुत्र की धृष्टता से रुष्ट पिता उसे 'तू मेरे लिए मर गया' तक कह देते हैं। यहां मात्र दृष्टि-परिवर्तन अर्थ है, वस्तु-परिवर्तन नहीं।

इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि कथन 'निमित्त कुछ नहीं करता' का भी अभिप्राय समझना चाहिए कि निमित्त मेरे लिए कुछ नहीं। व्यवहार झूठा, जगत मिथ्या जैसे वाक्य मात्र दृष्टि परिवर्तन की अपेक्षा से कहे जाते हैं, वस्तु-परिवर्तन की अपेक्षा से नहीं। अध्यात्म में भी निमित्ताधीन दृष्टि का निषेध है, निमित्त का नहीं। निमित्त को कर्ता कहा जाता है, क्योंकि भाषा अक्सर कर्तृत्ववाली होती है, किंतु यह व्यवहार है। वास्तव में वह सिर्फ उपस्थिति के शाश्वत नियम के कारण ही कर्तृत्व का आरोपी बन जाता है या हमारे द्वारा मान लिया जाता है। यह भी एक सापेक्ष सत्य ही है।

वस्तुस्थिति क्या है?

निमित्त स्वतंत्र है, वह अपना कार्य करता है। उपादान स्वतंत्र है, वह भी अपना कार्य करता है। दोनों एक साथ रहते हैं और अपना-अपना काम समय पर करते हैं। दोनों पदार्थ एक-दूसरे के लिए परिणमन नहीं कर रहे हैं, मात्र परस्पर उपकार कर रहे हैं। उपकार का अर्थ हमेशा कर्ता नहीं होता है।

दिखाई क्या देता है?

निमित्त उपादान का परिणमन रहा है, उपादान निमित्त का परिणमन रहा है। दोनों एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकते, यह शाश्वत नियम है। निमित्त प्रिय लोग सिर्फ निमित्त को देखते हैं तो उन्हें दिखाई देता है कि निमित्त चाहे तो कुछ भी बदल दे, उपादान तो निमित्ताधीन है। उपादानप्रिय लोग सिर्फ उपादान को देखते हैं तो उन्हें दिखाई देता है, उपादान निमित्त को परिणाम देता है, अतः वही बलवान है, निमित्त तो उसका नौकर है, इसलिए निमित्त तो उपादान के आधीन है। हम वो मानते हैं जो दिखाई देता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य दोनों को सिर्फ देखता है, पर मानता वह है जो वस्तुस्थिति है। ❑

देख कबीरा रोया

दीन दयाल शर्मा

जी हां, दुनिया में सबसे ज्यादा कड़वी चीज यदि कोई है तो वह है सच। इसी सच को या तो हरिश्चन्द्र ने झेला था या फिर मैं झेल रहा हूं। हरिश्चन्द्र से मेरा तात्पर्य आपके या मेरे कोई पड़ोसी या रिश्तेदार से नहीं, बल्कि सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र से है, जिन्हें अपनी सचाई के कारण अनेक दु:खों का सामना करना पड़ा था। यहां तक कि अपने राजपाट और परिवार से टूटकर श्मशान घाट की नौकरी तक की नौबत आ गई थी।

मध्य युग में जन्मे संत और आशु कवि कबीर जी भी अपनी सचाई पर टिके थे और बेचारे रो-धो कर चले गए। आज यदि वे दुनिया का हाल देख लेते तो अपना माथा पीट लेते। कारण कि आज सभी रो रहे हैं। कोई गरीबी को रो रहा है, कोई मिलावट को रो रहा है, कोई घाटे को, तो कोई अपने कपूतों को। खैर, साहब! रोने के अनेक बहाने हैं और चिल्लाने के कई सहारे।

चलती चाकी देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।।

कबीर जी तो चलती चक्की को समझ गए थे और रो पड़े थे। लेकिन अब चलती चक्की को देखकर रोने के लिए किसके पास वक्त है। कबीरजी चक्की की जगह आज यदि इतने बड़े-बड़े कल-कारखाने देखते तो माथा पीट लेते।

एक बंधु बाजार से कृष्ण कन्हैया की मूर्ति खरीद कर लाया तो दूसरे ने पूछा—'क्या लाए हो भाई?'

'कृष्ण कन्हैया लाया हूं।'

'कितने में?'

'पांच रुपए में।'

इस हादसे को कबीर जी देखते-सुनते तो शायद रोना छोड़ पागल हो जाते। जिस कृष्ण कन्हैया की खोज में उन्होंने जिंदगी गुजार दी। अपनी चदरिया ज्यों की त्यों धर दी और माया को महाठगिनी कहकर लौटा दिया, उसी कृष्ण कन्हैया को एक आम आदमी पांच रुपए में खरीद लाया। कैसी विडम्बना है। कबीर जी कदापि सहन नहीं कर पाते।

कबीर जी तो कह गए—'सुखिया सब संसार है, खावे अरु सोवै। दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै'। वो तो शुक्र है कि कबीर जी उस समय अपना रोना रोकर चल दिए। आज यदि दुनिया का हाल वे देखते तो बेचारे रोते-रोते ही इस दुनिया से विदा हो जाते। एक हम ही हैं जो जी रहे हैं।

सब जानते हैं कि सामाजिक विषमताएं वर्षों से चली आ रही हैं और उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही हैं। दहेज का लेन-देन जारी है। दुल्हनें जल रही हैं स्टोव फटने से। रिश्वत की बरसात हो रही है और भ्रष्टाचार की फसलें पनप रही हैं। कहीं भी देखिए, नीचे से लेकर ऊपर तक कोई दूध का धुला नहीं है।

धर्म और जाति के नाम पर तलवारें खिंच रही हैं। ऐसे में कबीर जी की बातें हैं तो बड़ी प्रासंगिक—चूंकि उन्होंने धार्मिक आडंबरों, अत्याचारों और सामाजिक विषमताओं के खिलाफ आवाज उठाई। वह एक सचाई थी और इस ऐतिहासिक सचाई को वे जानते थे। उन्होंने अपने जीवन में किसी भी संप्रदाय का निर्माण नहीं किया। तभी तो वे अकेले ही आजीवन मठों, पंथों, जातियों, धर्मों और अंधविश्वासों से लड़ते रहे। उस वक्त वे सिर्फ अकेले ही लड़े और आज आम आदमी लड़ रहा है। कबीर जी देखते तो फूलकर कुप्पा हो जाते। कोई कुर्सी के लिए लड़ रहा है तो कोई धर्म के लिए।

सचाई के कौन कितना नजदीक है। यह कोई नहीं देखता। बस, लड़े जा रहे हैं। सब सच्चे हैं।

मैं भी सच्चा हूं और आप भी सच्चे हैं। लेकिन आप एक बात बतलाइए कि क्या आपने कभी सच बोला है? नहीं । सच बोलने की जहमत उठाएंगे आप? ....तो कृपया आप सिर्फ एक दिन सच बोल कर देखें और फिर देखिए.... इसका परिणाम।

खैर साहब, हमारा हाल देखिए, हम जब भी सच बोले—रोना पड़ा है। वैसे आज इस पीढ़ी के लोगों के बीच अपने आपको अभिव्यक्त कर देना सबसे बड़ी बेवकूफी है। ये पिलपिले किस्म के लोगों की पीढ़ी है जो या तो शेर की खाल ओढ़े गीदड़ हैं या भेड़ की नस्ल में खूंखार भेड़िए। इनसे व्यवहार करने की रणनीति यही है कि आप या तो इनसे मुखौटे लगाकर मिलिए अन्यथा आप संघर्ष करके उन्हें उनकी अपनी जमीन पर खड़ा कर दीजिए या फिर उनकी कुर्सी के नीचे की जमीन पोली कर दीजिए, क्योंकि आज हर जगह अस्तित्व का झगड़ा है।

मुझे अपने गांव में आज भी अकेला पड़ा घर कभी चिंता नहीं देता। चाहे महीने भर घर से बाहर रहूं। बूढ़े—मां बाप की चिंता नहीं रहती, पर शहर के टूटे—फूटे गरीबखाने की, जिसमें एक अदद चारपाई—चंद कपड़े व एक अलीगढ़ी ताला है, चार घंटे में परेशान कर देता है। लगता है कोई चोरी करके कपड़े ही न ले जाए ....मुझे नंगा कर जाएगा। ऐसे में जब मैं सोचता हूं कि ...इससे किसी मजबूर व्यक्ति का नंगापन ही दूर होगा। तब मैं थोड़ा निश्चिंत हो जाता हूं। फिर भी संस्कारवश .... जैसे अभी इस वक्त भी मुझे कमरे की चिंता हो रही है।

बात नंगेपन की चल गई तो व्यवहार में मैं आज भी नंगा हूं। मैं जो हूं वह ज्यों का त्यों अपने को प्रकट कर देता हूं। गरीब हूं, इसलिए पर्स नहीं रखता। सौ के नोट होते ही नहीं, तो क्या दिखाऊं। मुझे आज भी मेरे एक दोस्त की याद आती है, जो हमेशा पर्स में सौ के दो-तीन नोट रखता है, पर खर्च दस पैसा भी नहीं करता। शायद खानदानी नोट थे उसके।

अब एक नजर मेरे अफसर पर ही डालिए। मेरा अफसर मेरा सबसे बड़ा दुश्मन होता है, क्योंकि वह मेरी आंखों के दर्पण को नापसंद करता है और मैं भी हर बार पिटकर भी अफसरों को उनकी असलियत बताने से नहीं हिचकता।

खैर, मैं इतना बेवकूफ भी नहीं कि अपनी निजी जिंदगी का खाका आपके सामने खोल दूं, क्योंकि ऐसी बेवकूफी मैं एक बार कर चुका हूं और उसी के कारण मैंने अपनी पूरी टाट गंजी करवा ली है। फिर भी आदत से मजबूर हूं। सच तो बोलूंगा ही।

.... अभिव्यक्ति .... इस शब्द का मेरी जिंदगी में बड़ा निजी महत्त्व है। संवेदनात्मक संबंधों में ....जहां किसी की आंख से घर-दीवारों में पीले गुलाब के बाग खिल जाते थे। किसी के शब्द से दिल की वायलिन बज जाती थी। ऐसे वक्त में अपने निराश प्रेमी अर्थात् मेरी प्रेमिका ने किसी और की डोली में बैठते हुए एक वाक्य कहा था कि—'तुम अपने आपको अभिव्यक्त करना नहीं जानते ....अन्यथा मैं हमेशा तुम्हारी ही रहती .... पापा, तुम्हें कभी मना नहीं करते।' यह वाक्य मेरे लिए ब्रह्मवाक्य बन गया और मैंने वह ब्रह्मवाक्य सीख लिया।

मैंने गलती यही की थी कि लड़की के बाप को सच-सच बतला दिया कि मैं गरीब व्यक्ति हूं। कई भाई-बहिनें हैं। एक मात्र मैं ही कमाता हूं। बाप रिटायर्ड हैं। मैं एल.डी.सी. से प्रमोट होकर यू.डी.सी. बन गया हूं। छः साल की नौकरी है ....अफसर से लड़ता हूं और आपकी बेटी से विवाह करना चाहता हूं। अंतिम वाक्य सांप बन गया मेरे लिए। .... और प्रेमिका के बाप ने मुझे उठाकर बाहर फेंक दिया।

तब से मैंने अपनी प्रेमिका की नसीहत मान ली है। अपने आपको अभिव्यक्त करना सीख लिया है .... और उसी दिन से सफेद झूठ बोलने लगा हूं। आप मुझ पर विश्वास मत कीजिएगा। मैं सच कह रहा हूं कि मैं झूठ बोलता हूं.... बल्कि सिर्फ लफ्फाजी ही करता हूं। बिलकुल झूठा हूं मैं। लेकिन आप भी विचार कीजिए कि एक दिन में आप कितनी बार सच बोलते हैं? अस्तु। ❑

दृष्टि बदलें तो दिशा बदले

पद्मचंद पटावरी

आज के सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र और तबके में एक शब्द बहुत अधिक प्रचलित हो रहा है और वह शब्द है चित्त समाधि। संभवतया ऐसा पहले नहीं था, पर कम अनुभव किया जाता था। जरूरतें कम थी, दायरे सीमित थे, पारिवारिक जीवन में संयुक्त रूप से एक छत और एक व्यवस्था के अंतर्गत रहने का सिलसिला प्रायः स्वीकार्य था।

पर धीरे-धीरे व्यवस्था परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन ने सारे समीकरण बदलने शुरू कर दिए। पता नहीं, इतनी सुंदर और प्रभावी व्यवस्था को नजर लग गई अथवा सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की भावनाओं का धागा कमजोर पड़ गया। परिणाम यह आ रहा है कि आज हर पीढ़ी अपने आप में शांति का अनुभव नहीं करती। ढेर सारे कारण भी हैं, जिन्होंने व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन और सामुदायिक जीवन की सोच को प्रभावित किया है।

हर चित्त आज असमाधिस्थ-सा दिखाई दे रहा है। कई कारण हैं, उनमें से एक है दृष्टिकोण का सम्यक् नहीं होना। यही कारण है कि सोच की परिणति उसी रूप में ही होती है जैसी पहले ही व्यक्ति अपनी मानसिकता बनाकर बैठ जाता है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, उचित एवं प्रभावी कदम यह होता है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् बने। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की त्रिवेणी को बहुत बड़ी अहमियत दी जाती है। यहां यह ज्ञातव्य रहे कि यदि व्यक्ति की सोच ही दूषित होगी तो परिणाम भी तदनुरूप ही होंगे, यह सर्वसिद्ध सत्य है।

दृष्टिकोण का नकारात्मक (निगेटिव) होना बहुत बड़ी असमाधि का कारण होता है। यदि व्यक्ति को हर बात में, हर कोण से अंधेरा ही अंधेरा दिखाई दे तो फिर सफलता संदिग्ध हो जाती है। नकारात्मकता इस कदर हावी हो जाती है कि लक्ष्य को पाना भी मुश्किल हो जाता है। यह ग्राह्य नहीं होना चाहिए।

चित्त समाधि में बाधक तत्त्व है दृष्टिदोष। यह बहुत बड़ी और कठिन बात है। व्यक्ति औरों के दोष को देखता फिरता है, पर खुद का चेहरा, खुद के आईने में झांक कर देखने की जुर्रत नहीं करता। यदि अपने आपको टटोलने की बात है तो तब स्वयं करें। अहसास होगा कि कौन कितने पानी में है और वह स्वयं कहां पर खड़ा है?

आज एक बहुत बड़ी समस्या है कि व्यक्ति स्वयं को सर्वेसर्वा और स्वयंभू मानने की भूल कर रहा है। यह सत्य है कि व्यक्ति समाज का अंग है, इकाई है। उसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता, पर वह समाज, संगठन और समूह से ऊपर नहीं है। वह स्वयं को निर्माता मान बैठे और अपना आकलन खुद करके स्वयं को अव्वल घोषित कर दे। मौका पड़ने पर समाज को तोड़ने की बात करे तो मान लीजिए यह गहरा दृष्टिदोष है। ऐसे व्यक्ति जहां और जिस समाज में होते हैं वहां समाज का चेहरा और चरित्र कमजोर पड़ जाता है।

दृष्टि में दूरदर्शिता का होना आज के परिवेश में

अत्यंत आवश्यक है। कुछ व्यक्तियों की सोच संकीर्ण होती है। उनके लक्ष्य भी छोटे होते हैं। सफलता का पैमाना भी उसी रूप में होता है। दृष्टिकोण की दूरदर्शिता व्यक्ति को परवान चढ़ा देती है। व्यक्ति कहां से कहां पहुंच जाता है।

आज हर व्यक्ति मानसिक असंतुलन, असंतोष और अपरिपक्व मनःस्थिति के बीच से गुजरने को विवश है, इसका कारण भी व्यक्ति की कार्य पद्धति और जीवन शैली से जुड़ा हुआ है।

जब हम बुजुर्ग पीढ़ी की ओर दृष्टिपात करते हैं तो आश्चर्य होता है कि बहुत सारी जगह उनके साथ 'काम में लो और फेंको' का कथन चरितार्थ हो रहा है। अब वे उस पड़ाव पर हैं जहां उन्हें सेवा, सहयोग के साथ मानसिक चित्त समाधि चाहिए। यदि वो नहीं मिल रही है तो स्थिति भयावह बन सकती है। संपूर्ण पारिवारिक जीवन बोझिल बन सकता है। वैसे श्रवणकुमार के देश में वृद्धाश्रम खोलने की कार्य-योजनाओं में नई पीढ़ी की सोच साफ झलक रही है। वे अपनी बुजुर्ग पीढ़ी के प्रति कैसा बर्ताव करना चाह रहे हैं, यह इस योजना से भलीभांति समझ लिया जाना चाहिए।

चित्त समाधि केंद्र बने, पर वह वृद्धाश्रम क्यों? क्या इसलिए कि उन बड़े-बुजुर्गों को स्वाभिमान की रोटी और समाधि देने की हमारी बारी से हम कन्नी काट लें? क्या यह उनके साथ छलावा नहीं है? क्या हमारी आनेवाली पीढ़ी भी कहीं हमारे साथ भी ऐसा बर्ताव नहीं करेगी? जब ऐसा अवसर आएगा तब हमें ज्ञात होगा, क्योंकि अनुकरण करना आज के वक्त की आदत होती है। खासकर खराब बातों से अपने आपको बचाना सहज सरल नहीं होता।

दृष्टि के मर्म को समझते हुए हम समन्वित सहभागिता के साथ आगे बढ़ें। बुजुर्ग और युवापीढ़ी की जीवन शैली में जो अंतर है उसे कैसे पाटें अथवा क्या संगति बिठाएं कि दोनों ही पीढ़ियां अपने आपको उपेक्षित न समझे। आज इन परिवारों में युवापीढ़ी की बहू-बेटियां टोका-टोकी पसंद नहीं करती। इसमें वे अपने आपको अपमानित महसूस करती हैं। यह भी विमर्श का विषय है। परिवार के पुरुष एवं महिलाओं के जॉब कार्य में लगने से परिवारों की स्थितियां क्या बनती हैं, इसे वहां देखा जा सकता है जहां ऐसा हो रहा है।

बाल-पीढ़ी को बड़े-बुजुर्ग अपने ढंग से संस्कार देने की कोशिश भी करे तो उन्हें यह गवारा नहीं। पहले बुजुर्ग सदस्य छोटों को टोकते, तो भी वे उन्हें सम्मान देते और उन्हें यह बताया जाता कि तुम्हारे सुखद भविष्य के लिए यह जरूरी है। वे उसे स्वीकार भी कर लेते, पर अब स्थिति उलट दिखाई देती है। दादा-दादी, नाना-नानी के किस्से मात्र किताबों की शोभा या अतीत का हिस्सा बनकर रह गए हैं।

धर्मक्षेत्र को ही लें। यहां भी संतजन युवापीढ़ी, बालपीढ़ी की ओर कोई इंगित करते हैं, उन्हें संस्कार निर्माण की सीख देते हैं तो उसे भी वे स्वीकार करने में असमर्थता का अनुभव करते हैं।

कुल मिलाकर यह कहना ज्यादा ठीक लग रहा है कि यदि दिशा बदलनी है तो दृष्टि को बदलना होगा। इसके लिए प्रयोग और प्रशिक्षण का सहारा भी लेना पड़ेगा। कुछ जीवनगत व्यावहारिक सचाइयां हैं, उनको भी आत्मसात् करना पड़ेगा। व्यक्ति स्वयं सोचे कि कहीं मेरे से तो कोई भूल नहीं हो रही है। यदि ऐसा कुछ है भी तो पहले उसका परिष्कार कर लिया जाए कि गलती नहीं करना है। इस अहंकारी सोच को भी त्याज्य करना पड़ेगा। ये कुछ नुस्खे होंगे जिससे सही दिशा की ओर बढ़ना आसान होगा।

आइए, दृष्टि परिवर्तन की इस महान सोच को जनव्यापी बनाने के प्रयत्नों से स्वयं को सहभागी बनाएं। अपने परिपार्श्व और औरों की सोच को भी इस मार्ग पर लाने में अपने श्रम और पुरुषार्थ का नियोजन करने से नहीं चूकें। ❑

इतिहास के झरोखे में : साध्वी परंपरा

साध्वी विमलप्रज्ञा

हम आज का दिन और वर्तमान का क्षण ठीक से जी रहे हैं तो कल का प्रवेश निश्चित रूप से शुभ और सुंदर होगा और वही कल आनेवाले कल को सजाने, संवारने का आधार होगा। अतीत में जीया गया सत्य ही वर्तमान में परंपरा बनकर जन्म लेता है। परंपरा क्या है? परंपरा है राम, कृष्ण, सूर, तुलसी, बुद्ध और महावीर आदि के द्वारा जीया गया अनुभूत सत्य। इसलिए परंपरा का अर्थ है—जो पर के भी परे है, या कहें श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर है।

कोई भी परंपरा या मर्यादा जीवन के लिए बंधन नहीं अपितु बंधन को खोलने का उपाय होती है। यह निरंतर मनुष्य को अनुशासित करती हुई भी स्वाधीनता के साथ उसे नए-नए आयामों में प्रतिष्ठित करती है। परंपरा को स्वीकार करने का अर्थ है—अनुशासन और संयम की दिशा में प्रस्थान।

जैनधर्म में साध्वी दीक्षा की एक यशस्वी परंपरा रही है। यहां पुरुषों के समान स्त्रियों को भी हजारों वर्षों से साधना पथ पर अग्रसर होने का अधिकार प्राप्त है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि सभी तीर्थंकरों के काल में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या सदैव अधिक रही है।

जब हम वैदिक युग में झांकते हैं तब मनु का यह उद्घोष—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता'—इस बात को प्रकट करता है कि वैदिक युग में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वेदों की ऋचाओं की रचना में भी नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सभी धार्मिक क्रियाकांडों में नारी की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई थी। वैदिक युग से स्मृतियुग में आते-आते जिस नारी ने वेदों की ऋचाओं के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, उसी नारी के लिए उन ऋचाओं के अध्ययन पर रोक लगा दी गई। घर की चहारदीवारों में उसकी कर्मणा शक्ति सिमट कर रह गई।

महावीर के समकालीन बुद्ध के धर्मसंघ में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। नारी के प्रति बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण इतना उदार नहीं रहा, जितना जैन धर्म का रहा था। जब गौतमी ने भगवान बुद्ध के सम्मुख तथागत प्रवेदित भिक्षु धर्म में दीक्षित होने की भावना रखी, तब बुद्ध ने कहा—गौतमी! तुम्हारी दीक्षित होने की भावना ही न हो, यही अच्छा है। अंत में आनंद के आग्रह पर गौतमी को आर्य गुरुधर्म की शर्त पर दीक्षित किया गया। फिर भी बुद्ध के मन में सदा इस बात की कसक रही कि मैंने नारी को दीक्षित करके संघ की दीर्घकालिकता को कम कर दिया।

महावीर ने इस दिशा में एक क्रांतिकारी डग भरा। उन्होंने अपने धर्म-संघ में नारी को दीक्षित ही नहीं किया, अपितु साधना की दृष्टि से पुरुष और नारी को समान अधिकार भी दिया। यद्यपि जैन-धर्म में 'पुरुष ज्येष्ठ' की जो बात्त आई है, उसका मूल आगम साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं है, लेकिन भाष्यकार और चूर्णिकार तक आते-आते 'ज्येष्ठ कल्प' की बात पुरुष ज्येष्ठ में बदल गई। इससे लगता है, उस समय के सामाजिक मानदंडों से जैन-धर्म भी अप्रभावित नहीं था। आगम युग में हम साध्वी संघ पर साधु संघ से अधिक नियंत्रण

होना नहीं पाते। उस समय साध्वी संघ अपने आंतरिक मामलों में पूर्णतया आत्मनिर्भर था, किंतु छेद सूत्र और आगमिक व्याख्या युग में यह नियंत्रण बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। चातुर्मास, प्रायश्चित्त, शिक्षा तथा सुरक्षा के मामलों में साध्वी-समुदाय से अनुशासित होने लगा था, फिर भी बौद्ध भिक्षुणियों की अपेक्षा जैन-साध्वियों की स्थिति पर्याप्त व्यवस्थित और सुखद रही है। उधर, हिंदू संन्यासियों का कोई व्यवस्थित संगठन या कोई व्यवस्थित आचार-संहिता रही हो—ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन जैन धर्म के महावीर से पहले और उनके बाद तक साध्वियों की अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है।

महावीर के युग में चंदनबाला छत्तीस हजार साध्वियों की प्रमुखा रही हैं। उनके संघ में दीक्षित होनेवाली अनेक साध्वियों का उल्लेख इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। महाराजा चेटक के सात पुत्रियां थीं। सातों ही पुत्रियों में प्रत्येक ने एक आदर्श नारी का रूप प्रस्तुत किया। सुज्येष्ठा ने कुमारावस्था में ही साधु जीवन स्वीकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त प्रभावती, मृगापति, शिवा और ज्येष्ठा ने भी संयमी जीवन स्वीकार कर साध्वी संघ की परंपरा को गौरवान्वित किया।

निरयावलिका सूत्र में महाराजा श्रेणिक की रानियां—काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, पितृसेन कृष्णा, महासेन कृष्णा ने दीक्षा स्वीकार की। इन्होंने विविध तपों से कर्मों को क्षीण कर अंत में मोक्षगति प्राप्त की।

महावीर के बाद सुधर्मा के शासन काल में साध्वी सुव्रता का उल्लेख मिलता है। जम्बू के साथ दीक्षित होनेवाली आठ राज-कन्याओं और उनकी माताओं ने साध्वी सुव्रता के पास दीक्षा ग्रहण की—ऐसा उल्लेख आता है।

साध्वी यक्षा : वीर निर्वाण की दूसरी और तीसरी शताब्दी में आचार्य संभूत विजय के शासन में शकडाल की सात पुत्रियां—यक्षा आदि के दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है। इन सातों की स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। साध्वी यक्षा किसी भी पद्य या श्लोक को एक बार सुनकर यथावत् सुना देती थी। इसी प्रकार क्रमशः दूसरी दो बार, तीसरी तीन बार, चौथी चार बार सुनकर यथावत् सुना देती थी। अपनी स्मरण-शक्ति के बल पर इन्होंने महा पंडित वररुचि को परास्त किया था। वनश्री ने अपने बड़े भाई स्थूलिभद्र के साथ संयम जीवन स्वीकार किया था। इनको देखकर छोटा भाई श्रीयक भी संसार से विरक्त हो गया। उसने भी अपने बड़े भाई के पदचिह्नों का अनुसरण किया, किंतु वह अत्यंत सुकोमल था। भूख और प्यास सहन करना उसके लिए कठिन था।

पर्युषण महापर्व आया। यक्षा की प्रेरणा से श्रीयक ने उपवास किया, किंतु रात्रि में भूख और प्यास की तीव्र वेदना वह सह नहीं सका। उसी रात को उसका प्राणांत हो गया। प्रातःकाल यक्षा को जब इस बात का पता लगा, तो उसका मन ग्लानि और पश्चात्ताप से भर गया। उसने श्रीयक की मृत्यु का अपने को निमित्त मानकर अन्न-जल ग्रहण करने का प्रत्याख्यान कर दिया। संघ के बार-बार कहने पर कि वह निर्दोष है, उसने कहा—'यदि अतिशय ज्ञानी मुझे निर्दोष कह दें तो मैं अन्न-जल ग्रहण कर सकती हूं। संघ ने तीन दिन तक शासन देवी की आराधना की। शासन देवी के सहयोग से यक्षा अर्हत् सीमंधर के समवसरण में पहुंची। तीर्थंकर के मुख से यह सुनकर कि 'यक्षा निर्दोष है' उसे संतोष हुआ। सीमंधर स्वामी ने उसे चार अध्ययन प्रदान किये, जो आज चार चूलिकाओं के रूप में उपलब्ध है। श्वेताम्बर साहित्य में यह भी उल्लेख है कि महागिरि और सुहस्ति ने बाल्यकाल में यक्षा के सान्निध्य में ग्यारह अंगों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

वीर निर्वाण की चौथी शताब्दी में **साध्वी पोइणी** का उल्लेख मिलता है। खाखेल द्वारा कुमारगिरि पर आगम परिषद् आयोजित की गई। उस परिषद में वाचनाचार्य बलिस्सह और गुणाचार्य सुस्थित सहित 500 श्रमणों तथा आर्या पोइणी आदि 300 साध्वियों की उपस्थिति थी। इस प्रसंग से यह बात स्पष्ट है कि साध्वी पोइणी का साध्वी संघ में महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह बहुश्रुत, आचारनिष्ठा और कुशल संघसंचालिका

साध्वी थी। इस प्रकार आगम मर्मज्ञा आर्या पोइणी ने आगम सेवा के द्वारा साध्वी संघ का गौरव बढ़ाया।

साध्वी सरस्वती : वी. नि. की पांचवीं शताब्दी में साध्वी सरस्वती का अवतरण हुआ। धरावास के राजा वज्रसिंह के कालक नाम का एक पुत्र और सरस्वती नाम की पुत्री थी। दोनों भाई-बहनों में अगाध स्नेह था। युवावस्था में एक जैन मुनि का उपदेश सुनकर वे विरक्त हो गए, दोनों ने साधु जीवन स्वीकार कर लिया। कालक कालकाचार्य बन गए। एक दिन वे विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। साध्वी सरस्वती भी अन्य साध्वियों के साथ नगर के बाहर दर्शनार्थ पहुंची हुई थी। संयोग ऐसा बना कि उसी समय उज्जयिनी का राजा गर्दभिल्ल विहार कर लौट रहा था। उसकी दृष्टि साध्वी सरस्वती पर पड़ी। वह उसके रूप पर आसक्त हो गया। उसने अनुचर भेजे और साध्वी का अपहरण करवाकर महलों में बुलवा लिया। गर्दभिल्ल ने सरस्वती को अनेक प्रलोभन तथा भय दिखलाए, यातनाएं दीं, किंतु वह अपने शील और संयम पर अडिग बनी रही।

उज्जयिनी के श्रावकों व विशिष्ट व्यक्तियों ने गर्दभिल्ल को समझाने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वह तैयार नहीं हुआ। तब आचार्य कालक साधुवेश छोड़ स्वयं युद्ध के लिए तैयार हो गए। वे शकशाहों के साथ मिलकर गर्दभिल्ल को परास्त कर अपनी बहिन को मुक्त कराने में सफल हुए। राजा के बंधनों से मुक्त होकर साध्वी सरस्वती जीवन-पर्यंत कठोर तप करती हुई समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुई।

मुरुण्ड राजकुमारी : समय वी. नि. की पांचवीं-छठी शताब्दी है। विशेषावश्यक भाष्य में विदेशी शक शासक मुरुण्डराज का उल्लेख मिलता है। मुरुण्डराज की बहिन थी–मरुण्ड राजकुमारी। पति वियोग के कारण राजकुमारी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह संन्यास लेना चाहती थी। लेकिन मुरुण्ड सत्यासत्य की कसौटी के बाद ही अपनी बहिन को दीक्षा की अनुमति देना चाहता था। उसने परीक्षा लेने का निर्णय किया। उसने एक कुशल हाथीवान को आदेश दिया कि वह एक कुशल हस्ती को लेकर राजमहल के समीपस्थ राजपथ पर खड़ा हो जाए तथा कोई भी संन्यासिनी या भिक्षुणी वहां से गुजरे तो उसे कड़ी चेतावनी दे कि वह अपने सारे वस्त्र डालकर आशांबरा हो जाए अन्यथा हाथी उसे कुचल डालेगा। राजा स्वयं गवाक्ष में बैठकर सारा दृश्य देखने लगा।

अनेक भिक्षुणियां उस मार्ग से गुजरीं। उन्होंने देखा—एक ओर भीमकाय हाथी का बीभत्स रूप है तो दूसरी ओर महावत की निर्वसना होने की कड़ी चेतावनी। मौत के भय से भयभीत उन सभी साध्वियों ने सारे वस्त्र खोलकर हाथी के सामने डाल दिए। राजा को अत्यंत निराशा हुई। कुछ ही क्षणों में एक कृशकाय जैन साध्वी वहां से गुजरी। एक ओर हाथी की चिंघाड़, दूसरी ओर महावत की चेतावनी गूंजी। लेकिन साध्वी दोनों की परवाह किए बिना धैर्य और निर्भीकता के साथ आगे बढ़ने लगी। इसी प्रकार उसने अपना रजोहरण, पात्र आदि सारे उपकरण क्रमशः हाथी के सम्मुख डाल दिए। केवल पहने हुए वस्त्रों के अतिरिक्त उसके पास कुछ नहीं था। हाथी अब भी उसका पीछा कर रहा था, पर साध्वी का धैर्य विचलित नहीं हुआ। देखनेवालों का धैर्य विचलित हो गया। चारों ओर से स्वर उठने लगे—'हाथी को रोको, हाथी को रोको।' हस्तीपालक किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। अब उसे क्या करना चाहिए? उसने राजा की ओर देखा। संकेत पाकर हाथी को रोक लिया गया। राजा के मन को संतोष मिला। उसने अपने मन में तत्काल निर्णय लिया कि इस संप्रदाय में दीक्षित होकर मेरी बहिन निश्चित ही आत्मकल्याण कर सकती है। मरुण्ड राजकुमारी ने जैन धर्म की दीक्षा स्वीकार की।

साध्वी रुद्रसोमा : समय वी. नि. की छठी शताब्दी है। रुद्रसोमा ने अपने पुत्र आर्यरक्षित को दृष्टिवाद पढ़ने के लिए प्रेरित कर जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण सेवा की थी। उसके परामर्श से राजपुरोहित सोमदेव एवं पुत्र आर्यरक्षित को विशेष अध्ययन के लिए पाटलीपुत्र भेजा था। षडंग सहित वेदों का अध्ययन करके आर्यरक्षित पुनः दशपुर लौट आए। राजा ने भव्य स्वागत के साथ नगर में प्रवेश करवाया। वे अत्यंत हर्ष के साथ पदवंदन के लिए अपनी मां के पास गए। मां सामायिक में बैठी थी, अतः वे दूर

से ही प्रणाम कर बैठ गए। मां आत्मचिंतन की गहराई में डुबकियां ले रही थी। इस बीच आर्यरक्षित के मन में प्रश्नों की श्रृंखला खड़ी हो गई। मन उदास हो गया। मैंने तो सोचा था—आज देखते ही मां खुशी से मुझे बांहों में भर लेगी लेकिन मां तो बिलकुल मौन है। सामायिक का कालमान पूर्ण हुआ, आर्यरक्षित ने मां के चरण स्पर्श किए। मां ने पुत्र को बांहों में भर लिया। आर्यरक्षित बोले—'मां! मेरे मन में एक जिज्ञासा है- आज जो खुशी मैं दशपुर के राजा और प्रजा में देख रहा हूं, वह खुशी तुम्हारे भीतर नहीं देख पा रहा हूं, यह सत्य है या मेरा ही दृष्टिकोण है।

मां ने अत्यंत स्नेहिल शब्दों में कहा—'बेटा! वह कोई अभागिन मां होगी जिसे अपने पुत्र की सफलता पर खुशी नहीं होगी। लेकिन, बेटा! एक बात कहूं—जो विद्या तुम पढ़कर आए हो वह लौकिक विद्या है। वह मात्र जीवन का भरण-पोषण करनेवाली है। अपने जीवन का निर्वाह तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं। तुम यदि अध्यात्म-विद्या यानी-दृष्टिवाद पढ़कर आते तो मुझे और अधिक खुशी होती।

मां की इस वेदना को आर्यरक्षित ने पकड़ लिया, पूछा—'मां! यह ज्ञान मुझे कहां मिल सकता है?' मां ने कहा—'नगर के बाहर इक्षुवाटिका है। वहां आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान हैं। उनके पास यह विद्या उपलब्ध हो सकती है। आर्यरक्षित तुरंत तोषलिपुत्र के पास गए। वंदन किया। अपने मन की भावना व्यक्त की। आचार्य ने कहा—मुनि बनने से ही यह ज्ञान संभव है। वे तत्काल मुनि बन गए। तोषलिपुत्र के चरणों में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। उसके बाद उन्हें दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए आर्य वज्र के पास भेजा गया। वहां वे सार्थ नव-पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर पुनः तोषलिपुत्र के पास आए। आचार्य तोषलिपुत्र ने योग्य समझकर उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया। आर्यरक्षित ने आचार्य बनने के बाद अपनी मां रुद्रसोमा को दीक्षित किया। इस प्रकार उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया। आर्यरक्षित ने चार अनुयोगों को पृथक् कर जैन शासन की बहुत बड़ी सेवा की। जैन शासन को वह रुद्रसोमा का ही अवदान था।

साध्वी ईश्वरी : इनका समय भी वी. नि. की छठी शताब्दी का अंतिम दशक है। उस समय भयंकर दुष्काल पड़ा। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति काल के ग्रास बनने लगे। सोपारक नगर का जिनदत्त भी दुष्काल के प्रभाव से बच नहीं सका। एक दिन श्रेष्ठी जिनदत्त और उसकी पत्नी ने निर्णय लिया-भूख से तड़प-तड़प कर मरने की अपेक्षा इच्छापूर्वक मरना श्रेष्ठ है। श्रेष्ठी ने अपने चारों पुत्रों के सम्मुख अपना निर्णय सुनाया। सभी ने निर्णय को उचित बताया। दूसरे दिन एक लाख मुद्राओं के बदले दो अंजलि अन्न जुटा पाए। अन्न पककर तैयार हो गया। ईश्वरी ने उसमें मिलाने के लिए ज्यों ही विष की पुड़िया खोली, उसी समय आचार्य वज्रसेन का पदार्पण हुआ। ईश्वरी का कण-कण खुशी से भर गया। उसने तीन बार वंदना की। वज्रसेन ने उसके हाथ में विष की पुड़िया देखकर जानना चाहा। ईश्वरी ने सारा वृत्तांत सुना दिया।

आचार्य वज्रसेन को गुरु द्वारा सुनी हुई भविष्यवाणी का स्मरण हो आया कि जिस दिन एक लाख मुद्राओं के भोजन में गृहस्वामिनी को विष मिलाते देखो, उस दिन समझ लेना कि अब दुष्काल का अंत होनेवाला है।

आचार्य वज्रसेन ने कहा—'श्राविके! घबराओ मत। दुष्काल का अंत होनेवाला है। आचार्य की वाणी पर उन्होंने आत्महत्या का विचार त्याग दिया। प्रातः-काल अन्न से भरे जहाज उतरने लगे। ईश्वरी का मन वैराग्य से भर गया। संसार की नश्वरता का चित्र सामने घूमने लगा। उसने संयम जीवन स्वीकार करने का निर्णय लिया। पति और पुत्रों ने भी इस निर्णय का स्वागत किया। ईश्वरी के साथ सबके चरण संयम मार्ग पर बढ़ चले।

इस प्रकार साध्वियों के विविध रूप उभर कर हमारे सामने आते हैं। उन्होंने आस्था भरे उद्बोधन पूर्ण समर्पण तथा अपने तप-संयम के द्वारा जैन शासन की बहुत बड़ी सेवा की है। साध्वियों का जो इतिहास उपलब्ध है वह अध्यात्म-ज्योति की उज्ज्वलता से भरा हुआ है, महान प्रेरणा और दिशाबोध लिए हुए है। ❑

संस्कारों की जन्मदात्री : नारी

साध्वी डॉ. गवेषणाश्री

लंबे सफर में सड़क पर लगे मील के पत्थर का जो स्थान है वही स्थान मां का बालक के विकास में है। मां बालक की प्रथम पाठशाला है, हर क्षेत्र में मां का स्थान सर्वोपरि है।

भाग-दौड़ और व्यस्तता के क्षणों में जो माता-पिता बच्चों के लिए वाञ्छित समय नहीं निकाल पाते हैं, बच्चों के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित नहीं करते, संस्कार नहीं देते हैं तो बच्चों के माता-पिता के प्रति सम्मान के भाव अलग ही होते हैं। वक्त जब हाथ से निकल जाता है तब अभिभावक के शिकायती स्वर यदा-कदा सुनने को मिलते रहते हैं।

बीज अंकुर बनकर बाहर आता है, बाद में माली की देखभाल के बिना उसका वृक्ष बनना मुश्किल है तो जन्म के बाद मां-बाप की योग्य परवरिश के बिना बालक का निर्माण भी मुश्किल है। परिवार में जो कुछ भी घटता है, बच्चे के मस्तिष्क पर असर होता है, उसकी सोच पर प्रभाव पड़ता है।

मां-बाप के बीच झगड़े, तलाक, अलगाव आदि का प्रभाव बच्चे के कोमल मन पर पड़ता है, जिससे असुरक्षा की भावना, आत्म-विश्वास की कमी, अस्थिरता का शिकार हो जाना आम बात हो जाती है। इसके विपरीत यदि मां-बाप का सम्बन्ध सुरक्षात्मक और प्रेमपूर्ण है तो यह बच्चे के व्यक्तित्व में अहम भूमिका निभाता है।

एक तरफ लोग गरीबी की रेखा से गुजर रहे हैं। दूसरी ओर फैशन में डूबी, शान-शौकत से व्यक्तित्व को निखारने में लगी मां को बच्चे के भविष्य से कोई सरोकार नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे बच्चों के मन में अनेकों सपने होते हैं, अवचेतन मन में शक्ति प्रदर्शन एवं प्रमुख रूप से छवि स्थापित करने की इच्छा पैदा होती है। जिन अभिभावकों को कमाने की सनक होती है, नतीजतन उन मां-बाप का सान्निध्य बच्चों के नसीब में नहीं है। सान्निध्य व साहचर्य से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है।

बच्चों को बिस्तर से उठते ही टिफिन देकर बोरे की तरह बस में डाल दिया जाता है। विद्यालय से आते ही फिर खिला-पिलाकर सुला दिया जाता है। ट्यूशन जाना, पुनः आना, खाना-पीना और सो जाना। बच्चे मां-बाप के स्नेह से वंचित ही रहते हैं। बच्चों का पालन-पोषण नौकरों और दायमाता द्वारा होता है। बच्चे मानो यांत्रिक ढंग से जी रहे हैं, ऐसे वातावरण में यदि बच्चा पलेगा-बढ़ेगा तो बिल्कुल जीवंत रोबोट बन जाएगा।

बच्चों के आक्रामक रुख अख्तियार करने की घटना जब सामने आती है तब जाकर पैरेंट्स की नींद खुलती है। 11 दिसंबर 2007 को गुडगांव के एक स्कूल में दो छात्राओं ने 8वीं कक्षा के अपने दोस्त पर पांच गोलियां दागकर उसे मार डाला।

3 जनवरी 2008 को मध्यप्रदेश के सतना जिले के चोखड़ी गांव में दसवीं कक्षा के एक छात्र ने अपने से जूनियर 8वीं के एक छात्र को गोली चला कर मार दिया। अगर अभिभावक बचपन से ही बच्चों के व्यवहार पर ध्यान दें तो हिंसक बनने से रोका जा सकता है। बच्चों में बढ़ती इस हिंसा ने सभी को हैरत में डाल दिया है। बच्चों के इस बदलते व्यवहार को व्यापक दायरे में देखते ही प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर बच्चे इस तरह के कदम क्यों उठा रहे हैं। निम्न उदाहरणों से स्पष्ट समझ सकते हैं—

बच्चा चुपके से पिता की शर्ट से पैसे चुरा रहा था।

उसी वक्त बाप का आगमन हुआ और डांटते हुए कहा, नालायक कहीं का, तुम्हारे से ऐसी आशा मैंने कभी नहीं की। पर जरा यह तो बता की ऐसी हरकतें, आदतें तुमने किससे सीखीं। बच्चा मौन और गर्दन झुकाये हुए खड़ा था। उसी समय बिजली विभाग के चैकिंग मेन वहां आ गए और बिजली कटौती प्रकरण में नाम दर्ज कर लिया। पिता का मुंह उदास हो गया, पुत्र सारा सीन निहार रहा था और धीरे से बोला—पिताश्री, ये संस्कार मैंने·इसी घर से सीखा है।

एक दिन पुत्र मां के पास आया और कहने लगा—मम्मी 100 रुपए दो। क्यों बेटे क्या करोगे? बेटे ने कहा—'मम्मी! पेन, पैंसिल आदि आवश्यक सामग्री लाना है। मां ने रुपए दे दिए। कुछ समय बाद बच्चा मां से पूछता है, आप जो सर्विस करती हैं तो एक घंटे में कितना कमा लेती हैं? मां ने कहा—200 रुपए। बालक तत्काल अंदर गया और 200 रुपए लेकर आया और कहा—'मां! यह लो 200 रुपए और मुझे एक घंटा आध्यात्मिक प्रशिक्षण दो।

बच्चों का मन कच्ची मिट्टी की तरह कोमल होता है। बच्चे अपने परिवार, परिवेश, समाज और स्कूल से बहुत कुछ सीखते हैं। बच्चे ऐसी स्थिति में हर चीज से जल्दी प्रभावित होते हैं। सही गलत का निर्णय अपरिपक्वता के कारण नहीं कर पाते। जैसा वातावरण सामने होता है उसका प्रतिबिंब मन पर उतर जाता है।

आज परिवारों में आय के स्रोत बढ़े हैं और तेजी से इजाफा भी हुआ है। सुख-सुविधाओं की वस्तुएं बढ़ी, आकांक्षाएं बढ़ी और भोग-विलास के साधन बढ़े, किंतु भौतिकवाद ने संस्कारों पर हमला किया। वर्तमान परिवेश में मां पार्टियों में, क्लबों में घूमती रहती है। बच्चों को घर में ज्यादातर समय अकेले में बिताना पड़ता है। जिस समय बच्चा स्कूल से घर आता है मां के दुलार की बजाय खालीपन मिलता है। अकेलापन हावी होने से उसकी मानसिकता में विकृति आने लगती है। आज यही कारण है कि बच्चे भारतीय संस्कृति से भटक रहे हैं और पाश्चात्य संस्कृति अपना रहे हैं।

सद्संस्कारों की खाद मिले बिना बच्चे के शुभ भविष्य की कल्पना निरर्थक है। महात्मा गांधी की मां पुतलीबाई, शिवाजी की मां जीजाबाई, आचार्य तुलसी की मां वदनाजी, आचार्य महाप्रज्ञजी की मां बल्लुजी, पन्नाधाय, मदालसा ने सही संस्कारों का वपन किया और इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में नाम लिखाया। कहा भी है कि नारी अपने आप में एक पवित्र ज्योति है जो अपने पति को, पुत्र को व परिवार के सभी सदस्यों का मार्गदर्शन कर सकती है। पाश्चात्य विद्वान लापेल ने कहा—'सती साध्वी स्त्री संसार की सर्वोत्तम वस्तु है।

कार्येषु मंत्री, करणेषु दासी,
भोज्येषु माता, रमणेषु रम्भा।
धर्मानुकूलता, क्षमया धरित्री,
भार्याच षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा।।

नारी गृहस्थ जीवन के नंदनवन की शोभा है, नारी सृष्टि की महती शक्ति है, उसने निर्मात्री शक्ति के रूप में इतिहास को मोड़ दिया है। वास्तव में नारी में सूर्य जैसा तेज, चांद जैसी शीतलता, पवन जैसी चंचलता, समुद्र जैसी गंभीरता, धरती जैसी सहनशीलता और प्रकृति जैसा सौंदर्य विद्यमान है।

नारी का साहस अग्नि है, सौंदर्य अप्रतिम है, जिनमें गंगा की गति, सरस्वती की मति और सीता के शील की प्रतीति है। जैसे किसी उपवन की शोभा सुंदर सुविकसित-सुवासित पुष्पों से होती है, वैसे ही घर की शोभा सुशिक्षिता और सुसंस्कारिणी नारी से है।

'संस्कारों की धूप खिले, घर-घर दीप जले।'

इमारत बनाने के लिए नींव की मजबूती जरूरी है बच्चों में संस्कार निर्माण के लिए मां का योगदान जरूरी है, बच्चे-कच्ची मिट्टी का लोंदा होते हैं, आकार पाने मां की गोद में पलते हैं। नीम के बीज से नीम का पौधा तैयार होगा और आम के बीज से आम का पौधा तैयार होता है। संस्कारों के बीज से खुशहाल और संस्कारी परिवार तैयार होता है। मां-बाप का स्नेहिल साया, घर का सुखद वातावरण ही बच्चों की पहली पाठशाला है—

'जिस घर में बच्चे संस्कारी, वह नर नारी का आभारी।'

विलास और आराम की संस्कृति को श्रम और व्यवहार की संस्कृति में बदलें। बच्चे का शुभ भविष्य मां के संस्कारों की विरासत है। ❑

चार लाख श्लोकों का सार एक श्लोक में

मनुष्य की बुद्धि का विकास व चमत्कार बड़ा ही विलक्षण है। कई व्यक्ति संक्षिप्त रुचिवाले होते हैं और कई विस्तृत रुचि के। विस्तृत रुचिवालों ने अपनी बुद्धि के विकास-फैलाव के द्वारा छोटी-सी बात को बहुत अधिक विस्तार से लिखा है और उसकी विस्तृत व्याख्या इतनी विशाल होती है कि जिससे मूलग्रंथ दब-सा जाता है। एक युग जिसे 'सूत्रयुग' कहते हैं। माना कि तब बड़े-बड़े ग्रंथों का सार, सार-ग्राहिणी बुद्धि के द्वारा कम से कम शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया। कुछ व्यक्तियों की रुचि को भी कारण माना गया। कई व्यक्ति बहुत ही संक्षिप्त में अपने भावों को व्यक्त करने का यत्न करते हैं, वे एक तरह से सागर में गागर भर देना चाहते हैं। तब विस्तार रुचिवाले बूंद को सिंधु बना डालते हैं, पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनमें दोनों तरह की प्रतिभा होती है। विस्तार से लिखने बैठते हैं तो लंबा-चौड़ा पोथा बना डालते हैं और प्रसंग आने पर बड़े से बड़े ग्रंथ का सार एक वाक्य या श्लोक में ही कह डालते हैं। यहां हम ऐसे ही चार पंडितों की एक लोककथा को उपस्थित कर रहे हैं, जो समाज में प्रतिवर्ष पर्युषण के दिनों में सुनाई जाती है। इसमें आत्रेय नामक वैद्य ने वैद्यशास्त्र, कपिल नामक धर्मशास्त्रवेत्ता ने धर्म का अर्थ और बृहस्पति ने नीतिशास्त्र एवं पंचाल ने कामशास्त्र का सार एक श्लोक में ही बता दिया। कथा प्रसंग के अनुसार इन चारों विद्वानों ने अपने विषय का विमोचन एक-एक लाख श्लोकवाले ग्रंथों में किया था, पर जिस को सुनाने के लिए इन महान ग्रंथों की रचना हुई, उनको पूरा सुनने का समय राजा के पास कहां था? इसलिए राजा के अनुरोध से उन चारों विद्वानों ने अपने-अपने शास्त्रों का निचोड़ एक ही श्लोक के चतुर्थांशपाद में बतला दिया है और इस तरह चारों विषयों के महान ग्रंथों का सार एक ही श्लोक में प्राप्त हो जाता है।

कथा चाहे कल्पित हो। जिन चार विद्वानों का नाम इस श्लोक में आता है वे चाहे भिन्न-भिन्न समय के हों और उनके रचे हुए ग्रंथों का परिमाण भी छोटा ही हो, पर जिस व्यक्ति ने इस कथा प्रसंग की संभावना की और यह श्लोक बनाया, उसकी सूझ-बूझ अवश्य ही सराहनीय है।

चार लाख श्लोकों का सार एक श्लोक में

वसंतपुर नगर के राजा जितशत्रु को एक बार शास्त्रश्रवण की इच्छा हुई, उनकी राजसभा में विविध विषयों के धुरंधर विद्वान थे, उनमें से चार को अपने-अपने विषयों के सांगोपांग ग्रंथ रचकर लाने को कहा गया, तब चार पंडितों ने एक-एक लाख श्लोक परिमाण के एक-एक ग्रंथ बनाये—(1) वैद्यक शास्त्र, (2) धर्मशास्त्र, (3) नीतिशास्त्र और (4) कामशास्त्र। इस प्रकार चार विषयों के चार ग्रंथ तैयार कर राजा के सन्मुख लाए और श्रवण करने का निवेदन किया। ग्रंथों की विशालता को जानकर राजा ने कहा—'इतने बड़े-बड़े ग्रंथ सुनने का तो मेरे पास समय नहीं है, इसलिए तुम थोड़े में उनका सार कह सुनाओ।' तब चारों विद्वानों ने मिलकर अपने-अपने ग्रंथ का सार भूत एक-एक चरण बनाकर क्रमशः राजा को इस प्रकार सुनाया—

'जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिल प्राणिनां दया।
बृहस्पतिरविश्वासः, पांचालस्त्रीषु मार्दवम्।।'

भावार्थ—आत्रेय नाम के विद्वान ने कहा कि 'पहले का किया गया भोजन पचने पर ही नया भोजन करना चाहिए, यह वैद्यक शास्त्र का परामर्श है।' कपिल पंडित बोले—'सर्व जीवों पर दया रखना यही धर्मशास्त्र का तत्त्व है।' बृहस्पति बोले—'किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए, यह नीतिशास्त्र का सार है।' पंचाल नामक कामशास्त्री बोला—'स्त्रियों के साथ कोमल व्यवहार करना युक्त है मगर उनका अंत कभी नहीं लेना। यह कामशास्त्र का रहस्य है। यह सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और उन चारों को खूब पारितोषिक दिया।

उपर्युक्त सारगर्भित श्लोक में कही हुई बातें बहुत ही गंभीर और मननीय हैं। वास्तव में भोजन के पच जाने के बाद ही उसका सार सारे शरीर को पुष्ट करता है और अजीर्ण ही सब रोगों की जड़ है। इसी तरह धर्म के विविध प्रकारों में दया और परोपकार का स्थान सर्वोपरि है। अठारह पुराणों का सार व्यासजी ने एक ही श्लोक में कह दिया था कि—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकार पुण्यायः पापाय परपीड़नं।।

वास्तव में ही यह श्लोक समस्त पुराणों का सार है। आखिर लाखों श्लोकोंवाले पुराणों को पढ़कर उसके सार को नहीं समझा तो उन्हें पढ़ना व्यर्थ ही है।

उपरोक्त श्लोक में नीतिशास्त्र और कामशास्त्र का जो सार बतलाया गया है उसमें कुछ व्यक्तियों को मतभेद हो सकता है, पर वह है विचारणीय। जिस दृष्टिकोण और अपेक्षा से वहां कहा गया है, उससे उत्तम व्यावहारिक शिक्षा अवश्य मिलती है। ❒

जीवित सहिष्णुता

वर्तमान युग धार्मिक सहिष्णुता का नाम लेकर उसकी सर्वथा उपेक्षा कर रहा है। वह धर्म को जीवन के लिए अनावश्यक मानने लगा है, किंतु यह ठीक नहीं है। धर्म ने मनुष्य को ऊंचा उठाया है और अब भी उसकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी पहले थी। राजनीतिक संघर्षों के कारण विश्व में जो निराशा छाई हुई है, वहां धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जिससे आशा की किरण प्राप्त हो सकती है। धार्मिक सहिष्णुता का इतना ही अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के विश्वासों को बुरा न कहे। यह सहिष्णुता वास्तविक होनी चाहिए तभी मनुष्य को ऊंचा उठा सकती है। इसका अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य यह समझे कि सत्य पर पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। व्यक्ति अपनी पसंद और योग्यता के अनुसार किसी एक मार्ग को चुनता है, अतः अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते हुए भी दूसरे के मार्ग की निंदा करना अनुचित है। इतना ही नहीं, इसका अर्थ है सत्य को किसी संकुचित सीमा में बांधना। हम जिस मार्ग का अवलंबन करते हैं वह सत्य का अंश है। इस मान्यता के साथ जब हम दूसरे मार्गों के प्रति सहानुभूति रखते हैं तभी अपने को सत्य का अनुयायी कह सकते हैं। इसके विपरीत यदि अंश को ही संपूर्ण सत्य मानने लगते हैं तो यह मिथ्यात्व है। इसका अर्थ है हम अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो गए। धार्मिक सहिष्णुता का सर्वोत्तम रूप यही है, इसी को हम धार्मिक लोकतंत्र कह सकते हैं।

हमारा प्राचीन तथा मध्ययुग धार्मिक संघर्षों का युग रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन के समय महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं ने यह संदेश दिया कि सांप्रदायिक भेदभाव भूलकर राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाना चाहिए। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि प्रत्येक भारतीय चरित्र संपन्न हो। इसका अर्थ है कि वे धर्म के नाम पर बुद्धि भ्रष्ट करनेवाले उन्माद को दूर करके सच्चा धर्म जीवन में उतारना चाहते थे। उन्होंने सत्य, अहिंसा, निरभिमानता आदि व्रतों को प्रस्तुत किया। साथ ही उन्हें छोड़ कर देवता, गुरु और शास्त्र के नाम से परस्पर झगड़नेवालों को कहा कि राम और रहीम एक ही सत्य के दो नाम हैं। वेद और कुरान दोनों में उसकी झलक है। पंडित और मौलवी दोनों उसके संदेशवाहक हैं। उन्होंने धर्म का बहिष्कार नहीं किया, किंतु उसके नाम से प्रचलित अंधश्रद्धा एवं मिथ्या-अहंकार को दूर करके असली रूप को प्रकट करने का प्रयत्न किया। वे धर्म को सांप्रदायिकता की परिधि से बाहर निकालना चाहते थे। इसी आधार पर उन्होंने 'सर्वधर्म समभाव' अर्थात् 'सभी धर्म मेरे हैं' का संदेश दिया। किंतु सभ्यता के नाम से वर्तमान युग एक नया नारा लगा रहा है, वह है 'सर्वधर्म समभाव'। इसी को धार्मिक सहिष्णुता भी कहा जाता है, किंतु व्यवहार में इसका अर्थ धर्म के प्रति उपेक्षा हो रहा है।

एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हो सकते हैं, किंतु चलना एक ही मार्ग पर होगा। सभ्यता का नारा लगानेवाला वर्तमान मानव खड़ा-खड़ा सब की चर्चा करना चाहता है, सबको खुश रखना चाहता है, उनकी सहानुभूति प्राप्त करके निजी स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, किंतु चलना किसी पर नहीं चाहता। यह नास्तिकता या मिथ्यात्व का ही प्रच्छन्न रूप है और प्रच्छन्न अग्नि या कंटक प्रकट अग्नि या कंटक से अधिक भयंकर होते हैं। दूसरे के मार्ग की निंदा न करना एक बात है। निंदा एक प्रकार की हिंसा है और उसे सभी धर्मों ने पाप माना है, किंतु साथ ही यह भी सत्य है कि धर्म जीवन में उतारने के लिए होता है थोथी चर्चा के लिए नहीं, और जीवन में किसी एक ही सिद्धांत को उतारा जा सकता है। यदि मीरा राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि सभी देवताओं को एक-सा मानती तो मीरा न बनती। उसने कृष्ण को अपना लक्ष्य बनाया और सर्वत्र उसकी झलक देखी। तुलसीदास ने राम को लक्ष्य बनाया और समस्त देवी देवताओं को उन्हीं का रूप माना। इसी प्रकार सत्य अहिंसा आदि नैतिक सिद्धांतों को जीवन में उतारनेवाला व्यक्ति सभी धर्मों में उनकी झलक देखता है, किंतु सहिष्णुता का नाम लेकर थोथी चर्चा करनेवाला सबसे दूर है। भक्त के लिए सभी देवता

अपने हो जाते हैं। चरित्र संपन्न के लिए सभी धर्म नीति बन जाते हैं। उनकी यह श्रद्धा भावना विधेयात्मक बल को लिए रहती है। इसके विपरीत समभाव या सहिष्णुता की चर्चा करनेवाले का अपना कोई धर्म नहीं होता। उसे धर्म को जीवन में उतारने के स्थान पर सम्मेलन और नेतागिरी की चिंता अधिक रहती है। धर्म उसके लिए अहंकार पोषण का साधन होता है, साध्य नहीं। उसका नाम लेकर वह अनुयायियों का संगठन करता है, प्रतिष्ठित व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करता है। ढोल पीटता है और अपने मिथ्याभिमान तथा स्वार्थों का पोषण करता है।

धार्मिक सहिष्णुता या तटस्थता को हम नीचे लिखी चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। उनसे यह जाना जा सकता है कि धर्म का हमारे जीवन पर विधेयात्मक प्रभाव कितना है और निषेधात्मक कितना? वह कहां तक हमारे जीवन की संचालक शक्ति है और कहां अहंकार पोषण या नेतागिरी का साधनमात्र।

1. एक व्यक्ति यह मानता है कि धर्म से कोई लाभ नहीं है, वह उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। पड़ोसी किसी धर्म को माने, उसमें उसकी कोई रुचि नहीं है। इस प्रकार की मनोवृत्ति सहिष्णुता का निम्नतम रूप है। इसका अर्थ है धर्म को व्यर्थ की वस्तु मानना और उसे कोई महत्त्व न देना। वर्तमान शिक्षित वर्ग में यही मनोवृत्ति काम कर रही है। उनका कथन है कि धर्म निष्प्राण हो चुका है, उसे पकड़े रहने का अर्थ है निष्प्राण कलेवर को घसीटते रहना, उसे जीवन में स्थान देने की अपेक्षा पुरातन संग्रहालय में रखना अधिक उपयोगी होगा।

2. दूसरा व्यक्ति धर्म को केवल अंधविश्वास मानता है, इसका अर्थ है सर्वथा उपेक्षा न करके वह अपना निर्णय तो देता है, किंतु उसे उपयोगी नहीं समझता। फलस्वरूप उसके खंडन-मंडन में पड़ना बेकार समझता है। यह भी निषेधात्मक सहिष्णुता का एक रूप है।

3. सहिष्णुता का तीसरा रूप प्रतिशोध का भय है। हम यह समझते हैं कि दूसरे के विश्वासों पर प्रहार करने से उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होगी। वह भी हम पर प्रहार करेगा। फलस्वरूप दूसरे के विश्वासों को बुरा समझते हुए भी हम प्रतिक्रिया के भय से चुप रहते हैं।

4. सहिष्णुता का चौथा रूप शांति को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न धर्मों के अनुयायी आपस में झगड़ते रहते हैं और अशांति उत्पन्न करते हैं। इसे दूर करने का एक ही उपाय है कि विरोधी परंपराएं परस्पर 'जीओ और जीने दो' की नीति को अपनाएं। वर्तमान राजनीति धर्म के विषय में इसी नीति को अपना रही है। वह उसे जीवन का आवश्यक तत्त्व नहीं मानती, फिर भी भारतीय जीवन में धर्म के प्रति श्रद्धा को देखकर उसने तटस्थ वृत्ति अपना ली है।

प्रस्तुत चारों प्रकारों में धर्म को विधेयात्मक कोई महत्त्व नहीं दिया गया। एक ने उसे महत्वहीन समझा, दूसरे ने भ्रमपूर्ण और चौथे ने अशांति का कारण समझकर सहिष्णुता को अपनाया। तीसरा प्रतिक्रिया से बचना चाहता है। पश्चिम ने पिछली शताब्दियों में धर्म के प्रति उपर्युक्त रुख को अपनाया। भारत भी उसी का अनुकरण कर रहा है, किंतु वास्तविक प्रश्न असहिष्णुता का है। जब तक विचारों की सहिष्णुता सिद्धांत के रूप में जीवन का अंग नहीं बनती और जब तक एकांगी दृष्टिकोण बना हुआ है तब तक समस्या का समाधान नहीं होता। धर्म के प्रति उपेक्षा बरत कर वही सहिष्णुता राजनीति तथा अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में प्रकट हो रही है। साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, लोकतंत्र आदि का नाम लेकर नई-नई विचारधाराएं खड़ी हो रही है और उन्हें आधार बनाकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपना शत्रु मानने लगा है। इसे दूर करने के लिए वास्तविक और जीवित सहिष्णुता की आवश्यकता है। जिस प्रकार भोजन में एक रस दूसरे रस का पोषक होता है, संगीत में एक स्वर दूसरे स्वर को मधुरता प्रदान करता है इसी प्रकार विचारों के क्षेत्र में भी एक विचार दूसरे विचार का पोषक बनना चाहिए, साथ ही दोनों विचारों को अपनी-अपनी परिस्थिति और सीमा का ध्यान रखना चाहिए। संघर्ष तभी होता है जब एक तत्त्व अपनी सीमा को पार करके दूसरे की सीमा में प्रवेश करने लगता है। विविधता जब सीमा में रहती है तो उसे व्यवस्था कहते हैं और जब सीमा पार कर जाती है तो वही अव्यवस्था बन जाती है। इस तथ्य को लक्ष्य में रखकर जब धार्मिक सहिष्णुता पर विचार किया जाता है तो उसका अर्थ हो जाता है—प्रत्येक दृष्टिकोण को समझने की भावना। इसी को जीवित सहिष्णुता कहा जाता है। ❑

आमंत्रण चारित्रिक मूल्यों की पुनः स्थापना का

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

आज का युग नेता बनने का युग है। परिवार में नेतृत्व की भूख जागी और संयुक्त परिवार की परंपरा चरमरा गई। समाज में नेतृत्व के संस्कार प्रबल हुए और पद-प्राप्ति के लिए संघर्षों का दौर शुरू हो गया। धर्म के क्षेत्र में नेतृत्व की भावना ने जन्म ले लिया तो अध्यात्म विकास की बात गौण हो गई। राजनीति में तो हर व्यक्ति की आंखों में नेता बनने का सपना अंगड़ाई ले रहा है। नेता बनना, दूसरों पर नेतृत्व करना, वादे करना और उनको पूरा करने के समय मुकर जाना—ये सब ऐसी बातें हैं कि जो राजनीति की नीतिहीनता के जीवंत साक्ष्य हैं। अणुव्रत भी नेता बनने की बात में विश्वास करता है, पर वह नेतृत्व का संबंध व्यक्ति तक ही सीमित रखता है। वह कहता है कि दूसरों पर अनुशासन करने की वृत्ति घातक है। स्वयं पर अनुशासन करो। स्वयं अनुशासित हो गए तो दूसरे लोग आपके अनुशासन में अपने आप आएंगे।

अणुव्रत क्या है?

'अपने पर अपना अनुशासन'—संक्षेप में यही अणुव्रत है। यदि अणुव्रत को धर्म के रूप में परिभाषित किया जाए तो उसकी भाषा होगी—अणुव्रत वर्ण, जाति और सम्प्रदाय से मुक्त धर्म है, यह मानव धर्म है। इसके संकल्प बहुत छोटे-छोटे हैं, पर उनकी क्षमता इतनी है कि वे मनुष्य के मानस को रूपांतरित कर सकते हैं।

अणुव्रत का मूलभूत उद्देश्य है आत्मानुशासन का विकास, आत्मसंयम का विकास और आत्मतोष का अनुभव। अणुव्रत एक सार्वभौम, सार्वजनीन और सार्वकालिक कार्यक्रम है। शहर हो या गांव, देश हो या विदेश, सब जगह अणुव्रत की उपयोगिता है। श्रमिक हो या व्यवसायी, शिक्षक हो विद्यार्थी, जनता हो या जननेता—सबके लिए अणुव्रत का दिशादर्शन आवश्यक है। दिन हो या रात, सतयुग हो या कलियुग, किसी भी समय अणुव्रत की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि वर्षों से अणुव्रत का अभियान अनवरत चल रहा है। अणुव्रत आंदोलन की सार्वजनिक उद्घोषणा करते समय अणुव्रत अनुशास्ता ने केवल पचीस व्यक्तियों की मांग की थी। उनकी

परिकल्पना थी कि पचीस व्यक्ति अणुव्रत की आचार-संहिता को स्वीकार कर लें तो संसार के सामने एक मॉडल प्रस्तुत किया जा सकता है। पता नहीं, अनुशास्ता की वाणी में क्या जादू था, पचीस के स्थान पर इकहत्तर व्यक्ति एक साथ खड़े हो गए। उन्होंने उस प्रयोग के लिए अपने आपको प्रस्तुत कर दिया। आज तो हजारों-हजारों व्यक्ति अणुव्रत के प्रशंसक, समर्थक और प्रचारक हैं। अणुव्रत का पालन करने वालों की संख्या भी कम नहीं है, किंतु अणुव्रत आंदोलन की बुनियाद में उन इकहत्तर व्यक्तियों का साहस, संकल्प और समर्पण कार्यकारी बना।

अणुव्रत के अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी एक स्वप्नद्रष्टा आचार्य थे। वे नए-नए सपने देखते, उन्हें आकार देने की योजना बनाते, योजना की क्रियान्विति के लिए पुरुषार्थ करते और अपने पुरुषार्थ के साथ नए-नए व्यक्तियों को जोड़ते रहते थे। जैन आगमों में आचार्य को दीपक से उपमित किया गया है। एक दीपक से हजारों दीपक प्रज्वलित हो सकते हैं। इसी प्रकार आचार्य अपनी ज्ञान-ज्योति से स्वयं दीप्तिमान होते हैं और दूसरों को दीप्तिमान करते हैं।

आचार्य श्री ने देश की आजादी के साथ-साथ अणुव्रत का सपना देखा। इसका उद्देश्य था—लोक जीवन को चरित्र के साथ संयोजित करना। सन् 1950 के प्रारंभ में 26 जनवरी को स्वतंत्र भारत का संविधान लागू हुआ था और उससे पूर्व 2 मार्च, 1949 में अणुवत की घोषणा हो गई। कुछ लोगों ने प्रथम बार में ही अणुव्रत को ऊंची निगाहों से देखा, पर उसकी आलोचना करने वाले लोग भी कम नहीं थे। आशंका और आलोचना के तटबंधों के बीच में अणुव्रत की यात्रा शुरू हुई। आलोचना करनेवाले आज भी करते हैं। आशंका का दौर भी समाप्त नहीं हुआ है। फिर भी अब वे तटबंध टूट गए हैं, और अणुव्रत की गति निर्बाध रूप से आगे बढ़ रही है।

आचार्यश्री के व्यापक या राष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रमों में अणुव्रत पहला कार्यक्रम है। अणुव्रत मिशन को लेकर आचार्य श्री ने अपने कार्यक्षेत्र को विस्तार दिया। इससे पहले उनका विहार क्षेत्र राजस्थान तक सीमित था। सन् 1950 में आचार्य श्री पहली बार दिल्ली गए। वहां अणुव्रत का पहला अधिवेशन क्या हुआ, एक धमाका हो गया। लगभग पांच सौ व्यापारियों ने एक साथ खड़े होकर व्यापार में होने वाली अनैतिकताओं जैसे—मिलावट करना, असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना आदि, प्रवृत्तियों को छोड़ने का संकल्प स्वीकार किया तो हजारों-हजारों आंखें विस्फारित ही रह गईं। समाचार पत्रों ने उस संवाद को पूरे महत्त्व के साथ प्रकाशित किया। लोगों में जिज्ञासा जागी, उत्सुकता बढ़ी और आशंका का स्थान कुछ नई संभावनाओं ने ले लिया।

आचार्य श्री ने स्वयं भी यह कल्पना नहीं की थी कि उनका छोटा-सा मिशन एक व्यापक कार्यक्रम के रूप में उभरेगा और राष्ट्रीय चरित्र का संवाहक बनेगा। किंतु जब संभावना पुष्ट हुई और आशा का दीप जल उठा तो उन्होंने अणुव्रत-यात्रा करने का निर्णय लिया। इस निर्णय की क्रियान्विति में उन्होंने पंजाब से कन्याकुमारी और कच्छ से कलकत्ता तक लगभग पूरे देश की धरती का अवगाहन किया। जैन मुनि होने के कारण पदयात्रा उनका जीवन व्रत था। वे पांव-पांव चलकर धरती के इस छोर से उस छोर तक पहुंचे। लाखों-लाखों लोगों से सीधा संपर्क साधा। उनकी समस्याओं को समझा और अणुव्रत के माध्यम से उनको समाधान सुझाया।

अणुव्रत को ही यह श्रेय जाता है कि आज आचार्य श्री की पहचान तेरापंथ और जैनधर्म के आचार्य से अधिक मानवधर्म के प्रवक्ता के रूप में है। अणुव्रत को ही यह श्रेय है कि उसने आचार्य भिक्षु द्वारा स्वीकृत सार्वभौम धर्म की बात को पूरी तरह से व्यावहारिक बना दिया। यह श्रेय भी अणुव्रत को जाता है कि उसने धर्म और धर्माचार्यों से दूर रहने वाले पंडित नेहरू जैसे व्यक्ति का संपर्क आचार्यश्री के साथ कराया और उनको

एक सीमा तक धर्मोंन्मुख बनाया। यह श्रेय भी अणुव्रत को ही मिलेगा कि उसने लाखों-लाखों लोगों को मादक व नशीले पदार्थों की गिरफ्त से मुक्त कर स्वस्थ जीवन जीने का रास्ता दिखलाया।

अणुव्रत के अन्तर्गत आचार्य श्री ने नयामोड़ का कार्यक्रम दिया। इस कार्यक्रम ने सामाजिक कुरूढ़ियों के उन्मूलन के कीर्तिमान स्थापित कर दिये। बाल विवाह, वृद्ध विवाह, मृत्युभोज, मृत्यु के उपलक्ष्य में रुदन, विधवा स्त्री की अवमानना आदि अनेक प्रसंग ऐसे थे, जो सामाजिक विकास के दरवाजों को बंद किए हुए थे। अणुव्रत ने लोगों को नई दृष्टि दी। भावी समस्याओं की ओर इंगित किया और एक बदलाव का दौर शुरू कर दिया। आज लोग अनुभव कर रहे हैं किं आचार्य श्री उनको सही रास्ता नहीं दिखलाते तो आज न जाने वे कहां होते? कैसे खुलते ये विकास के दरवाजे!

विद्यार्थी और शिक्षक अणुव्रत के लिए उर्वर भूमि हैं। इस पर नैतिक बीजों का वपन कर वह अपने देश को खुशहाल भविष्य देना चाहता है। नशे की संस्कृति की ओर उन्मुख देश का विद्यार्थी वर्ग अणुव्रत की छत्रछाया में आ जाए तो उसमें पनप रही अपराधी मनोवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है। इस दृष्टि से अणुव्रत शिक्षक संसद गठित की गई। उसकी गतिविधियों से शिक्षा के क्षेत्र में नई हलचल हो रही है। विद्यार्थी और शिक्षक—ये दो वर्ग अणुव्रत के साथ पूरी शक्ति से जुड़ जाएं तो शिक्षा जगत में नई क्रांति घटित हो सकती है।

अणुव्रत आचार्यश्री तुलसी का वह अवदान है, जो केवल आज को ही आलोकित नहीं कर रहा है। इसका आलोक आनेवाली कई पीढ़ियों तक पहुंचता रहेगा। अणुव्रत उपासना की पगडंडियां नहीं हैं, यह चरित्र का राजमार्ग है। इस पर जो भी चलेगा, निश्चिंत भाव से मंजिल तक पहुंच सकेगा। यह मानवता का दर्शन है और मानव मात्र के लिए है। जाति, रंग, लिंग, धर्म, संप्रदाय, प्रांत आदि की सीमाएं इसमें कहीं भी बाधक नहीं है। इसके माध्यम से आचार्यश्री ने मनुष्य मात्र को आमंत्रण दिया है चारित्रिक मूल्यों की पुनः स्थापना के लिए। अणुव्रत के मंच से एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न हो, जो मनुष्य को मनुष्य बना सके और मनुष्य को मनुष्य से जोड़ सके। ❑

स्वभाव

एक व्यक्ति एक साधक के पास गया और बोला—'गुरुजी! मेरा स्वभाव बहुत उग्र है। इसे नियंत्रित करने का उपाय बताइये।'

साधक ने कहा—'अरे वाह! यह तो नई चीज़ है। मैंने आज तक उग्र स्वभाव नहीं देखा। ज़रा दिखाओ तो कैसा होता है उग्र स्वभाव?'

उस व्यक्ति ने कहा—'लेकिन वह तो अचानक कभी होता है। उस पर मेरा नियंत्रण थोड़े ही है।'

'ओह!' साधक ने कहा—'यदि वह हमेशा नहीं है तो तुम्हारा स्वभाव नहीं है। किसी कारण से तुमने उसे बाहर से ओढ़ा हुआ है। बस, हमेशा इस बात का ध्यान रखना।'

नदी का पानी तो नहीं पीया?

'गुरुजी! यह कुम्भाराम चौधरी है। इनका विश्वास हमें तो क्या समूचे प्रांत को है। इसने आपको नदी में पानी पीते देखा है।' मुस्कराते हुए गुरुजी ने चौधरी से उच्च स्वर से पूछा—'चौधरी जी! तुम तो हमारे साथ ही थे।' चौधरी—'हां महाराज! मैं नदी तक आपके साथ में था। आप नदी में पानी पीने ठहरे, तब मैं आगे आ गया।' लोगों के चेहरे पर मुस्कराहट फैल गई, देखें, अब क्या उत्तर देते हैं गुरुजी! गुरुजी—'हां, हम नदी में पानी पीने के लिए ठहर गए थे। अच्छा चौधरी जी! हमने पानी नदी का पीया था या हमने अपने पात्र में से जल पीया?' चौधरी—'महाराज! पानी तो आप अपने पात्र में से पी रहे थे।' गुरुजी—'नदी का पानी तो नहीं पीया?' 'नहीं महाराज! नदी के पानी से तो आप तीस हाथ दूर बैठे थे। ऐसे झूठ कैसे कह दूं कि आपने नदी का पानी पीया है। मैंने तो जैसा समझा वैसा ही इन लोगों को कहा है और अभी भी वही कह रहा हूं।

आज हमारे शहर में चातुर्मास के लिए मुनिश्री आ रहे हैं। चलो उनके सामने जाएं। आज से कार्तिक पूर्णिमा तक शहर में चारित्रात्माओं का रहना होगा। खूब व्याख्यान सुनेंगे। मुनिश्री सिद्धांतों के बड़े ज्ञाता है, इनके पास से हम भगवती सूत्र सुनेंगे, आगमों के सूक्ष्म रहस्यों की धारणा मुनिश्री से करेंगे। सचमुच! ऐसे बाल ब्रह्मचारियों का चातुर्मास हमारे पूर्वकृत सुकृत के फलस्वरूप ही मिला है। श्रावकों के झुंड के झुंड परस्पर इस प्रकार की बातें करते हुए प्रसन्न मुद्रा में सब एक ही दिशा में जा रहे थे।

सबसे आगे उपासक जिनदास था। सैनिकों के कवायदी कदम की भांति उनके कदम उठ रहे थे।

अरे! कुम्भा चौधरी! इधर से महाराज आ रहे हैं? कुम्भा ने कहा—'हां, आ रहे हैं।' 'तुमने कहां पर देखा?' 'मैं इतनी देर महाराज के साथ ही था। महाराज नदी में पानी पीने लग गए। मैं आगे आ गया। आने ही वाले हैं। इतना कहकर चौधरी आगे बढ़ गए।

जिनदास के कदम वहीं पर रुक गए। उसने सोचा— गजब हो गया। साधुजी नदी का पानी भी पी लेते हैं। इधर तो कच्चे जल से, भीगे हाथों से भिक्षा भी नहीं लेते, और जंगल में नदी में पानी पी जाते हैं। अब चरित्र केवल दिखावा रह गया। वस्तुतः यह सारा ढोंग है। न जाने ये अकेले क्या-क्या करते होंगे। अरे भाई! साधु तो आगे होते थे। बड़ा कठिन आचार पालते थे। अब तो नाम ही रह गया। सांप तो चला गया और पीछे से केवल उसकी लकीर रह गई। उससे डरना मूर्खता है। ऐसे साधुओं से तो हम ही अच्छे हैं। जो नियम लेते हैं, उसे बराबर पालते तो हैं। ये लोग दंभ तो भरते हैं महाव्रती

होने का और छोड़ते नहीं है कच्चे जल को भी। मैं श्रावक होकर भी कच्चा जल नहीं पीता। केवल मात्र ज्ञानी बनने से होना जाना क्या है? ज्ञान तो अभवी भी नव पूर्व तक का प्राप्त कर सकता है, किंतु मुक्ति तो नहीं पाता। व्याख्यान को चाटें क्या? बोलना किसे नहीं आता। उस बोलने की क्या कीमत है जो जीवन में उतरा हुआ न हो। व्याख्यान दर व्याख्यान में जो वैराग्य बरसाता है और आचरण में गोल मटोल है, ऐसे व्याख्यानी हमें कभी नहीं चाहिए। जिनदास के विचारों में एक ऐसा अंधड़ आया कि उसका चिर संचित श्रद्धा-वृक्ष जड़ों से हिल गया। वह तत्काल वापस पहुंच गया। रास्ते में जितने व्यक्ति मिले, उन सबको यह घटना सुनाता गया तथा साथ में अपना निर्णय भी। लोगों ने सोचा—हमारे शहर में तो सबसे उत्कृष्ट कोटि का श्रावक यह जिनदास है। यह भी जब वापस जा रहा है तब हम सामने जाएं, यह अटपटा सा लगता है। भेड़ों के झुंड की भांति हजारों व्यक्ति साधुओं की निंदा करते हुए वापस शहर में आ गए।

क्या बात है? कोई श्रावक सामने नहीं आया। यह शहर तो श्रावकों का गढ़ है। यहां तो हजारों घर श्रावकों के हैं। उन्हें पता भी है कि आज हम शहर में प्रवेश करने वाले हैं, फिर भी कोई नहीं आए। इस प्रकार साधुओं से बातें करते हुए गुरुजी शहर में आ गए। लोग दुकानों पर बैठे हैं, किंतु कोई उठकर वंदना तक नहीं करता। सभी यह सोच रहे हैं कि यही वे गुरुजी हैं। जो नदी का पानी पीते हैं। पंडित बने फिरते हैं। सैद्धांतिक तथा वैरागी होने का दंभ रखते हैं। धिक! धिक! ऐसे दंभपूर्ण जीवन को, जिसमें सत्य का अंश भी नहीं मिलता।

गुरु ने सोचा—आखिर हुआ क्या? कोई नजदीक नहीं आ रहा है। दिन-रात जो सेवा में रहा करते थे, वे आज सामने ही नहीं दीख रहे हैं। जिन्हें साधुओं को देखने के बाद आसन पर बैठने तक का त्याग था, वे आज पैर पर पैर चढ़ा कर बैठे हैं। इसी असमंजस में चलते-चलते गुरुजी पंचायत मकान में आ गए। वहीं पर साधु-संत ठहरा करते थे। गुरुजी भी आज्ञा लेकर उसमें ठहर गए, किंतु मन में चैन नहीं पड़ा। सोचते-सोचते गुरुजी के ध्यान में आया कि जरूर इन लोगों को कोई भ्रम हुआ है। भ्रम के कारण ही वे मुझे असाधु मान बैठे हैं। इसीलिए पास में नहीं आ रहे।

आज गुरुजी स्वयं भिक्षा के लिए उठे, सीधे जिनदास के घर पहुंचे। आज जिनदास दूसरे ही रंग में था। वंदना करनी तो दूर की बात, सामने ही नहीं देखा, किंतु गुरुजी तो विचार करके गए थे। पैर रोककर बोले—'क्यों श्रावक जी! चातुर्मास की प्रार्थना में तो हजारों की भीड़ और प्रवेश के समय में एक भी नहीं। आखिर बात क्या है?' जिनदास आकाश की ओर देखता हुआ बोला—'चातुर्मास की प्रार्थना तो चारित्रात्मा समझ कर की थी। अब पता चला- चारित्र नहीं, दंभ है तब सामने कैसे आएं? आप यही कहा करते थे कि गुरु की परीक्षा अपनी बुद्धि से करनी चाहिए। किसी के कहने मात्र से हां नहीं भरनी चाहिए और साधुत्वहीन वेष को कभी नहीं पूजना चाहिए। इसीलिए लोग आपके प्रवेश के समय सामने नहीं आए।'

गंभीर होकर गुरुजी बोले—'आखिर मुझे बतलाओ तो सही, कि मेरे में क्या खामी है?' जिनदास बोला—'ये बातें रहने दो महाराज! अब यह वाक्चातुर्य नहीं चल सकेगा। लोगों ने आंखों से देख लिया।' गुरुजी बोले—'क्या करते हुए देख लिया श्रावक जी?' 'क्या और क्या— नदी में पानी पीते हुए।' यह सुनते ही गुरुजी को सारी बात समझ में आ गई। आप बोले—'सुनो श्रावक जी! गलती छद्मस्थों से ही होती है, केवली से नहीं। मैंने नदी का कच्चा जल कभी पीया हो, ऐसा याद नहीं है। तुम यदि आंखों से देखनेवाले व्यक्ति से मेरा साक्षात्कार कराओगे तो उनसे पूछूंगा और उसमें यदि हम साधुओं की किंचित् गलती मुझे महसूस हुई तो मैं सब साधुओं के साथ श्रावक संघ के समक्ष प्रायश्चित्त करूंगा। अगर तुमने उस व्यक्ति से साक्षात्कार नहीं करवाया तो मैं तुझे असत्यभाषी समझूंगा। जिनदास बोला—'बिलकुल ठीक है महाराज। लो आज दोपहर को एक बजे हम सब उस व्यक्ति को लेकर उपस्थित होंगे।'

पंचायत मकान में आज संवत्सरी की-सी भीड़ लग रही है। पैर रखने की जगह नहीं है। सब यही सोच रहे हैं कि गुरुजी क्या प्रायश्चित्त लेंगे। कोई सोचता है नई दीक्षा ही लेनी होगी, तो कोई छः मासी, चातुर्मासी छेद या तप की सोच रहा है। मानो सभी के छेद सूत्रों का गहरा अध्ययन किया हुआ है।

'गुरुजी! यह कुम्भाराम चौधरी है। इनका विश्वास हमें तो क्या, समूचे प्रांत को है। इसने आपको नदी में पानी पीते देखा है।' मुस्कराते हुए गुरुजी ने चौधरी से उच्च स्वर से पूछा—'चौधरी जी! तुम तो हमारे साथ ही थे।' चौधरी—'हां महाराज! मैं नदी तक आपके साथ में था। आप नदी में पानी पीने ठहरे, तब मैं आगे आ गया।' लोगों के चेहरे पर मुस्कराहट फैल गई, देखें अब क्या उत्तर देते हैं गुरुजी! गुरुजी—'हां, हम नदी में पानी पीने के लिए ठहर गए थे। अच्छा चौधरी जी! हमने पानी नदी का पीया था या हमने अपने पात्र में से जल पीया?' चौधरी—'महाराज! पानी तो आप अपने पात्र में से पी रहे थे।' गुरुजी—'नदी का पानी तो नहीं पीया?' 'नहीं महाराज! नदी के पानी से तो आप तीस हाथ दूर बैठे थे। ऐसे झूठ कैसे कह दूं कि आपने नदी का पानी पीया है। मैंने तो जैसा समझा वैसा ही इन लोगों को कहा है और अभी भी वही कह रहा हूं।

सभा में सन्नाटा-सा छा गया। सब के दांतों तले अंगुली आ गई। सभी अपने-अपने दिमाग पर मन ही मन खीजने लगे। जिनदास के नीचे से तो जमीन ही खिसक गई। इसी ने सबको वापस मोड़ा था। अब सोच रहा है—दुनिया भर की अपेक्षा लगा लेता हूं। सुबह मुझे यह अपेक्षा क्यों नहीं सूझी? हाय! हम सबने आज बिना विचारे ही श्रद्धा का हनन किया। और इसमें सब से अधिक भाग लेने वाला मैं ही था। अच्छा हो, हम सब समवेत रूप से गुरुजी से क्षमा याचना करें और लगे हाथ दोष का प्रायश्चित्त कर लें।

समूचा संघ गुरुजी के चरणों में गिर पड़ा। सब ने क्षमा याचना की। गुरुजी उपस्थित जन समुदाय को शिक्षा देने लगे कि आश्चर्य है, यहां का श्रावक संघ श्रद्धा में इतना कमजोर है। जिस श्रावक संघ पर गर्व था, वह श्रावक संघ सबसे ज्यादा कच्चा निकला। श्रावकों में कुछ गंभीरता होनी चाहिए। मुझे लगता है कि यह अस्थिरता ज्ञान के अभाव में आई है। श्रावकों को पता नहीं है कि उत्तर गुण में बड़े से बड़ा दोष लगाने पर प्रायश्चित्त लेने का अभिलाषी होने से वह साधु है। पुलाक लब्धिवाले साधु अपनी लब्धि से चक्रवर्ती की सेना का सामना कर लेते हैं। दंड से चक्रवर्ती की सेना को भगा देते हैं। फिर भी यदि छः महीनों में कोई मनुष्य न मरा हो तो मुनि का चारित्र अक्षुण्ण रह जाता है। उसे असाधु समझनेवाला मिथ्यात्वी हो जाता है।

उत्तर गुणों में दोष लगानेवालों को बकुस नियंटा कहा जाता है। ऐसे निर्ग्रंथ कम से कम एक साथ दो सौ करोड़ मिलते हैं। मूल तथा उत्तर गुण में आंशिक दोष लगानेवाले पड़ी सेवी निर्ग्रंथ भी करोड़ से कम नहीं मिलते। साधु वैक्रियलब्धि से अश्व का रूप, हाथी का रूप, हंस आदि अनेक पशु-पक्षियों के रूप बना कर हरी घास पर चलते हैं, आकाश में उड़ते हैं फिर भी दंड लेने की भावना रखने से उनका चारित्र नहीं जाता। सूत्रों की तो धारणा नहीं है और दृढ़ आस्था है। छद्मस्थ साधुओं की किंचित् त्रुटि देखकर मूर्ख लोग खो देते हैं। इतना नहीं समझते कि साधु-साधु के उत्तर गुणों में एकम और पूर्णिमा के चंद्रमा जितना अंतर रहता है।

मुझे खेद है कि मेरे श्रावकों ने इन सब तत्त्वों का ज्ञान अभी तक नहीं किया। फलतः छुट-पुट बातों को लेकर वे सम्यक्त्व खोने को भी तैयार हो जाते हैं। आज तो सचमुच! यही हुआ है। मैं श्रावक समाज से भविष्य में कम से कम इतनी आशा रखता हूं कि वे किसी भी घटना की पूरी जानकारी किए बगैर ऐसी अप्रिय घटना की पुनरावृत्ति नहीं करेंगे। ❑

सा विद्या या विमुक्तये

समणी ऋजु प्रज्ञा

उपनिषदों में ऋषियों ने गाया—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमयेति' हमें असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। अमरत्व की ओर जाने का उपाय बतलाया–विद्याया अमृतमश्नुते विमुक्तये' विद्या वही है जो मुक्ति (अमरता) की ओर ले जाए। आज धर्म-दर्शनों ने मुक्ति के अर्थ को एक सीमा में बांध दिया है। वह सीमा है—समस्त कार्मों का नाश होने पर प्राप्त होने वाला आत्मा का शुद्ध स्वरूप। किंतु मुक्ति का एक व्यापक संदर्भ भी है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने शिक्षा के क्षेत्र में 'सा विद्या या विमुक्तये' सूत्र में मुक्ति के पांच अर्थों को व्याख्यायित किया है। शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का—

- पहला अर्थ है—अज्ञान से मुक्ति।
- दूसरा अर्थ है—निषेधात्मक भावों से मुक्ति।
- तीसरा अर्थ है—संवेगों के अतिरेक से मुक्ति।
- चौथा अर्थ है—संवेदों के अतिरेक से मुक्ति।
- पांचवां अर्थ है—पूर्व धारणाओं, कुसंस्कारों से मुक्ति।

इन पांच संदर्भों में मुक्ति को देखने पर 'सा विद्या या विमुक्तये' सूत्र का हार्द स्पष्ट हो जाता है और यही वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य है।

1. अज्ञान से मुक्ति

संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

अज्ञान खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः,
अर्थ हितमहितं वा न वेत्ति येनावृत्तो लोकः॥

अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब पापों से भी अधिक कष्टकारी अज्ञान है जिससे आवृत्त होने पर व्यक्ति हित और अहित का विवेक भी नहीं कर पाता। इसलिए सच्ची शिक्षा वही है जो व्यक्ति के भीतर व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर करे और ज्ञान के प्रकाश को प्रकाशित करे।

भगवान महावीर ने कहा—

जावन्तविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्ख संभवा,
लुप्पंति बहुसो संसारम्मि अणन्तया।।

सब दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। दुःख और अज्ञान दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। न्याय शास्त्र में कारण दो प्रकार के माने गए हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। दुःख का निमित्त कारण कुछ भी हो सकता है, पर उपादान कारण व्यक्ति के स्वयं का अज्ञान है। जिज्ञासा हो सकती है कि ज्ञानी कौन? अज्ञानी कौन? निश्चय दृष्टि से जब तक केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) प्राप्त नहीं होता तब तक सब अज्ञानी हैं। किंतु व्यवहार की दृष्टि से इसकी सापेक्ष व्याख्या की जा सकती है। प्राइमरी वालों की अपेक्षा सेकेण्डरी वाले ज्ञानी और बी.ए. की अपेक्षा सेकेण्डरी वाले अज्ञानी। उपाध्याय यशोविजय जी ने अज्ञान की सुन्दर परिभाषा दी–हेयोपादेयविज्ञानं नो चेत् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ–अर्थात् हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ज्ञान नहीं है तो वह अज्ञानी है, अतः शिक्षा का मुख्य कार्य विवेक ज्ञान को जागृत करना है। आज की शिक्षा विद्यार्थी को ज्ञान के नाम पर सूचनाएं बहुत प्राप्त करवा रही है पर विवेक ज्ञान का जागरण नहीं हो रहा है। प्राचीन काल में गुरुकुल परम्परा होती थी। उस समय जब विद्यार्थी अध्ययन पूरा कर घर जाने लगता तो गुरुजन उसके विवेक की परीक्षा करते और उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही घर जाने की अनुमति प्रदान की जाती, पर आज की शिक्षा पद्धति में विवेक की परीक्षा का कोई प्रावधान नहीं है। मुंशी प्रेमचंदजी ने लिखा—जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है—हमारा विवेक, हमारा सेवाभाव और हमारी नम्रता। अगर यह डिग्री नहीं मिली तो कागज की डिग्री व्यर्थ है, अतः 'सा विद्या या विमुक्तये' का पहला अर्थ है—अज्ञान से मुक्ति और विवेक ज्ञान का जागरण।

2. निषेधात्मक भावों से मुक्ति

शिक्षा के क्षेत्र में 'सा विद्या या विमुक्तये' का दूसरा अर्थ है—निषेधात्मक भावों से मुक्ति। हमारे सारे आचार, विचार और व्यवहार का माध्यम बनते हैं हमारे भाव। इसलिए कहा जाता है—जैसा भाव वैसा स्राव और जैसा स्राव वैसा स्वभाव। स्वभाव को अच्छा बनाने के लिए विधेयात्मक सोच बहुत आवश्यक है। विधेयात्मक सोच और निषेधात्मक सोच वालों के लिए घटना एक ही होती है, पर सोचने और देखने की दृष्टि भिन्न होती है। विधायक सोच वालों के लिए गिलास आधा भरा हुआ है, तो निषेधात्मक सोच वालों के लिए गिलास आधा खाली है। विधायक सोच वालों के लिए दो रात के बीच एक दिन है। विधायक सोच वाले युधिष्ठिर के लिए इस दुनिया में कोई बुरा आदमी नहीं तो निषेधात्मक सोच वाले दुर्योधन के लिए इस दुनिया में कोई अच्छा आदमी नहीं है। किसी के द्वारा थप्पड़ मारे जाने पर विधायक सोच वालों के लिए कोई बात नहीं, थप्पड़ ही तो मारा है, जान से तो नहीं मारा। किंतु निषेधात्मक सोचवाला ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार विधायक सोच वाला दुःख में भी सुख खोज लेता है और निषेधात्मक सोच वाला सुख में भी दुःख ढूंढ़ता है। घटना को बदलना संभव नहीं, किंतु चिन्तन को बदलना संभव है। दो पेड़ पास-पास उगे। एक सूख गया तो मालिक ने उसे ठूंठ समझ कर काट डाला। कटते हुए उसने पड़ोसी पेड़ से शिकायत की कि कैसे स्वार्थी हैं लोग। जिस मालिक को जीवनभर सुविधा पहुंचाता रहा उसे मेरा अस्तित्व बना रहना भी नहीं सुहाया। पड़ोसी पेड़ ने समझाते हुए कहा—'दोस्त! सकारात्मक सोचो कि कटते-कटते भी मैं मालिक को सूखी लकड़ी दे सकने का सौभाग्य अर्जित कर सका हूं। शिक्षा जगत का यह कार्य है कि विद्यार्थी में इस प्रकार के विधायक सोच का सर्जन करे कि वह हर दुःख में सुख खोज सके।

3. संवेगों के अतिरेक से मुक्ति

मनुष्य के जीवन में संवेगों का बड़ा महत्त्व है किंतु संवेग का अतिरेक शरीर और मन दोनों के लिए हानिकारक है। इसी संवेगातिरेक के कारण पढ़े-लिखे अच्छे-अच्छे डॉक्टर, वकील, इंजीनियर आदि भी आत्महत्या कर लेते हैं, मर्डर कर देते हैं और अक्षम्य अपराध कर बैठते हैं। अतः विद्यार्थी संवेगों पर नियन्त्रण कैसे करें, यह बताना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है। संतुलित संवेग हमारे ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र दोनों को प्रभावित करते हैं तथा इन दोनों के संतुलित रहने से हमारा जीवन-क्रम अच्छा चलता है। जैसे-अक्षर बोध, भाषा और तर्क का बोध, गणित का बोध भी शिक्षा का ही एक अनिवार्य तत्त्व है, वैसे ही जीवन निर्माण का बोध भी शिक्षा का ही एक अनिवार्य अंग है। आज शिक्षा में आजीविका की शिक्षा पर जितना बल दिया जा रहा है उतना जीवन निर्माण की शिक्षा पर नहीं है और यह देखकर 'सा विद्या या विमुक्तये' के स्थान पर 'सा विद्या या नियुक्तये' कहना ज्यादा संगत प्रतीत हो रहा है।

आज अध्ययन-अध्यापन का मुख्य उद्देश्य आजीविका प्राप्त करना बनता जा रहा है। इसलिए संवेग परिष्कार पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। शिक्षा में शारीरिक और बौद्धिक विकास के साथ-साथ जब तक मानसिक और भावनात्मक विकास पर ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक वह शिक्षा सर्वांगीण नहीं बन सकती। मानसिक एवं भावनात्मक विकास का एक मात्र उपाय है-संवेगों का परिष्कार। आचार्य महाप्रज्ञजी ने जीवन-निर्माण के संदर्भ में केवल संवेग परिष्कार की बात ही नहीं कही अपितु संवेग परिष्कार कैसे करें, इस संदर्भ में अनेक प्रयोगों की भी चर्चा की है। आज विज्ञान यह मानता है कि जिस व्यक्ति का पीनियल ग्लैण्ड सक्रिय होता है हाइपोथेलेमस को शांति केन्द्र का स्थान माना है। इन दोनों चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से संवेगों को परिष्कृत और अनुशासित किया जा सकता है। अनुप्रेक्षाओं के साथ अलग-अलग रंगों का ध्यान विशेषतः नीले, पीले और गुलाबी रंगों का ध्यान करने से भी संवेगों का परिष्कार होता है।

4. संवेदों के अतिरेक से मुक्ति

संवेगों की भांति संवेदनाओं का अतिरेक भी अनेक समस्याएं पैदा करता है, अतः शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह संवेदों के अतिरेक से मुक्ति दिलाए। पांच इन्द्रियों के पांच विषय हैं और आज विद्यार्थी का पूरा दिन इन्द्रिय की संवेदनाओं के सहारे बीतता है। वह कभी टी.वी. देखता है, तो कभी क्रिकेट की कॉमेन्ट्री सुनता है, तो कभी फिल्मी गाने। यह ध्रुव सिद्धांत है कि जहां क्रिया होती है और जहां शक्ति का व्यय होता है वहां जीवन में कोई विशेष उन्नति नहीं कर पाता, अतः किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए एक सीमा तक संवेदनाओं पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने जीवन विज्ञान के अन्तर्गत संवेदन पर नियंत्रण करने के कुछ उपायों की चर्चा की है, जिसमें पहला उपाय है—परिणाम बोध। इन्द्रिय से प्राप्त होने वाले संवेदन-'खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा' अर्थात् क्षणिक सुख और बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं। उनका परिणाम किंपाकफल के समान कटु है, अतः हमें वही प्रवृत्ति करनी चाहिए जिसका परिणाम लंबे समय तक कल्याणकारी हो।

संवेद नियन्त्रण का दूसरा उपाय है—श्वास नियन्त्रण। श्वास नियन्त्रण का अर्थ है पूरा गहरा दीर्घ-श्वास। श्वास जितना छोटा होता है, विषय भोग के प्रति आकर्षण उतना ही बढ़ता है। शरीर, मन और इन्द्रिय चंचल बनते हैं। आज विज्ञान भी यह मान रहा है कि 13-14 वर्ष की अवस्था में थाईमस और पीनियल यह दोनों ग्रंथियां निष्क्रिय हो जाती हैं। इनके निष्क्रिय होने से सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव हो जाता है। इस अवस्था में यौन सक्रियता भी बढ़नी शुरू हो जाती है जिसके कारण विद्यार्थी अनेक बुराइयों का शिकार हो जाता है। दीर्घश्वास के प्रयोग से निम्न वृत्तियां, बुरे विचार एवं वासनाओं को रोका जा सकता है। हमारे मस्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन। जिसके कारण व्यक्ति में पाशविक वृत्तियां उभरती हैं, उसका

संबंध नाक और इन्द्रियों के साथ भी है, अतः प्राणकेन्द्र (नासाग्र) पर ध्यान करने से संवेदनों को नियंत्रित एवं अनुशासित किया जा सकता है।

5. पूर्व धारणाओं एवं कुसंस्कारों से मुक्ति

शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का पांचवां अर्थ है—पूर्व धारणाओं और कुसंस्कारों से मुक्ति। आज युग तेजी से बदल रहा है, युग के साथ परिस्थितियां भी बदल रही हैं, किंतु हमारी धारणाएं और संस्कार नहीं बदल रहे हैं। आज भी अनेक पढ़े-लिखे शिक्षित लोग छुआछूत, दहेज-प्रथा जैसी मूल्यहीन धारणाओं से प्रेरित हो प्रवृत्तियां कर रहे हैं। अनेक अंधविश्वास और रूढ़ियां समाज के लिए सिरदर्द बनती जा रही है। इसका कारण है कि आज की शिक्षा व्यक्ति को साक्षर बना रही है, किंतु उनके संस्कारों का परिमार्जन और भावों का परिष्कार नहीं कर रही है। कुसंस्कारों को दूर कर सम्यक् का वपन करना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। संस्कार निर्माण के लिए नैतिक मूल्यों का श्रवण मात्र ही पर्याप्त नहीं, उस पर मनन और निदिध्यासन करना भी आवश्यक है। मूल्यों को जीवनगत करने के लिए अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग भी आवश्यक है। यदि किसी विद्यार्थी में झूठ बोलने का संस्कार है तो उसे इससे मुक्त करने के लिए झूठ मत बोलो, यह कहना ही पर्याप्त नहीं अपितु सत्य की अनुप्रेक्षा करवाना आवश्यक है। अनुप्रेक्षा ब्रेन-वाशिंग का उपाय है। एक ही बात को बार-बार दोहराने से बुरे संस्कार दूर होते हैं और उसके स्थान पर सम्यक् संस्कारों का निर्माण होता है।

शिक्षा जगत में यदि इन पांच संदर्भों पर विचार किया जाए तो सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास की बात संभव हो सकती है और स्वस्थ समाज की संरचना में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। ❑

आगे बढ़ो

सैचलिंग ने कहा है कि 'जो आदमी इस बात को जानता है कि मैं क्या हूं, वह शीघ्र ही यह जान लेगा कि मुझे क्या होना चाहिए। पहले यह आवश्यक है कि आदमी के विचारों में आत्मसम्मान हो, फिर व्यवहार में तो वह अपने-आप आ जाएगा। दृढ़ता के साथ वस्तुओं पर अपना अधिकार जतानेवाला वास्तव में उसका अधिकारी हो जाता है। कौसूथ ने लिखा है,'नम्रता बुद्धिमत्ता का एक अंग है और मनुष्य की शोभा है, परंतु किसी को भी अपना आत्मविश्वास घटाना नहीं चाहिए। वह मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है।' इसी तरह फ्रायड ने लिखा है कि पेड़ के फल और फूल से पूर्ण होने के लिए उनकी जड़ को खूब गहरे जम जाना चाहिए। इसी नींव पर मानसिक शिक्षा और सुधार का भवन खड़ा किया जा सकता है, जो उसे नीची श्रेणी से ऊपर उठाता है और दूसरों के तिरस्कार से मुक्त कर देता है।

तेरापंथ शासन का कार्यकारी हस्ताक्षर महासभा

महासभा का इतिहास

लेखक
मुनि सुमेरमलजी (मंत्रीमुनि) लाडनूं

संपादक
मुनि उदित कुमार

गतांक से आगे.... (पांचवीं किस्त)

जैन भारती : विकास यात्रा

विवरण पत्रिका का प्रारंभ

जब महासभा का विस्तार करने के उपाय सोचे गए, तो उसमें परस्पर में संवाद पहुंचना जरूरी माना गया। सुझाव आया, जितने महासभा के सदस्य बनते हैं, उन्हें गतिविधियों की जानकारी अवश्य मिलती रहनी चाहिए। इस हेतु एक पत्रिका प्रकाशित की जाए और उसे महासभा के सदस्यों के पास भेजा जाए। पत्रिका का नाम रखा गया 'विवरण पत्रिका'। इसे 1940 मार्च में प्रारम्भ कर दिया गया। खास करके संत-सतियों तथा आचार्यवर के विशेष समाचार इसमें देने का क्रम बनाया। समाज की घटना-विशेष की जानकारी व अन्य संवाद इसमें देने का क्रम तय किया गया।

प्रारंभ में इसका मूल्य दो रुपए रखा गया। दो रुपए महासभा का सदस्यता शुल्क तथा दो रुपए इसका शुल्क। जो महासभा के सदस्य बनते उनसे एक साथ चार रुपए ही ले लिया करते थे। पुराने कागज पत्र देखने से मालूम पड़ता है कि कई व्यक्तियों ने दो रुपए ही सदस्यता शुल्क दिए। संभव है वे विवरण पत्रिका के सदस्य नहीं बने, किंतु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम थे। बहुत जल्दी विवरण पत्रिका ने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी। उस जमाने में समाचार कहीं से भी विशेष मिलते नहीं थे।

संचार व्यवस्था उस समय बहुत ही कमजोर थी, अलग-अलग राज्य के पत्र तो और देरी से पहुंचते थे। पत्र आदि देने का अभ्यास लोगों का बहुत कम था। फिर भी साधु-सतियों तथा आचार्यश्री के समाचारों को सुनने व जानने की उत्सुकता रहती थी। विवरण पत्रिका से वे समाचार लोगों को घर बैठे मिल जाते थे, इसलिए लोग इसके ग्राहक तेजी से बनने लगे। पहले वर्ष में करीब नौ सौ ग्राहक बन गए थे। प्रारंभ में मासिक निकलती थी। श्रीचंदजी रामपुरिया, छोगमलजी चौपड़ा इसे विशेष रूप से देखते थे। धीमे-धीमे इसके बारे में लोग सोचने लगे, सुझाव भी देने लगे। कुछ-कुछ अतिरिक्त सामग्री भी दी जाने लगी। शांत सुधारस भावना अनुवाद सहित थोड़ा-थोड़ा करके छापा गया। अन्य सामग्री भी दी जाने लगी। तेरापंथ समाज की यह पहली पत्रिका थी।

गुणवत्ता बढ़ाने का प्रयास

सन् 1948 के मार्च तक इसका प्रकाशन होता रहा। इसके नाम परिवर्तन के बारे में कई बार सुझाव आते रहे। पाठकों का चिंतन था–'विवरण पत्रिका' नाम केवल समाचारों का द्योतक है, इसमें और भी बहुत कुछ आता

है, ऐसा नहीं लगता। इसका नाम होना चाहिए–'जैन भारती'। काफी अरसे से चिंतन चलते-चलते 17 फरवरी को 35वें अधिवेशन पर तय किया गया कि नाम बदल दिया जाए। अप्रैल 1948 का अंक जैन भारती के नाम से निकाला। समाज ने इस नाम को अपनाया, सभी को अच्छा लगा। अन्य विद्वानों को भी यह नाम ठीक लगा। पहले वर्ष में इसकी प्रतियां 1800 निकलनी शुरू हो गई। सामग्री भी काफी अच्छे स्तर की दी जाने लगी। साधु-साध्वियों के समाचार भी पूर्ववत् दिए जाते रहे।

जैन भारती की ग्राहक संख्या प्रायः दो हजार के अंदर ही रही। कभी घट कर हजार के आस-पास पहुंच जाती थी, फिर प्रयास करने पर 1400 के आस-पास आ जाती थी। बीच में एक-दो बार 2500 तक भी पहुंची। सामग्री अच्छी दी जाती रही है, फिर भी यह व्यापक नहीं बन सकी। यह इसके साथ त्रासदी जुड़ी हुई है।

सन् 1951 में यह भी तय किया गया कि जैन भारती से विवरण पत्रिका अलग कर दी जाए। समाचार उसमें आ जाएंगे। निबंध, लेख, कविता, आदि जैन भारती में छापे जाएं। सन 51 के जुलाई अंक से जैन भारती व विवरण पत्रिका अलग-अलग निकाली। सोचा तो यह गया–ऐसा करने से जैन भारती व्यापक बन जाएगी। केवल सैद्धान्तिक लेख, कविता, शोध प्रबंध आदि देने से ग्राह्य व पठनीय बन जाएगी। पठनीय तो पहले भी थी, बाद में भी रह गई, किंतु ग्राहक संख्या बढ़ नहीं पाई। लेकिन विवरण पत्रिका अलग करने से जो श्रावक समाचारों के इच्छुक थे, वे विवरण पत्रिका को लेकर संतुष्ट हो गए। दूसरी, समाज के बिना प्रयत्न ग्राहक बढ़े, यह संभव नहीं है। विद्वद्भोग्य पत्र-पत्रिकाएं प्रायः ट्रस्टों से चलती है। विद्वान लोग ग्राहक बन कर पत्र-पत्रिकाएं नहीं मंगाते, मुफ्त पहुंचाएं तो पढ़ लेते हैं। प्रायः ग्राहक पंडित नहीं होते। ग्राहक सामान्य बुद्धिजीवी अपने दिमाग को राहत पहुंचाने या इतिहास की घटनाओं की जानकारी करने मासिक पत्र-पत्रिकाएं खरीदते हैं या ग्राहक बनाने के लिए कोई परिचित आए तो उन्हें नकार नहीं सकते, इसलिए ग्राहक बन जाते हैं। जिस संस्था के पदाधिकारी हैं, कार्यकारिणी के सदस्य हैं, उस संस्था का जो पत्र निकलता है उसे मंगाना जरूरी होता है, अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए वे ग्राहक बनते हैं। दो पत्र होने से लोगों ने जैन भारती विद्वानों की पत्रिका समझ ली, विवरण पत्रिका, जिसका शुल्क कम था, उसके ग्राहक बन करके संतोष कर लिया। दोनों की ग्राहक संख्या मध्यम रह गई।

उतार चढ़ाव के झोंके

ग्राहक संख्या घटती गई, घाटा बढ़ता गया। नियति ही कुछ ऐसी रही कि जबसे विवरण पत्रिका तथा जैन भारती प्रारंभ हुई, तभी से घाटे में चली है। इसका इतिहास प्रायः प्रतिवर्ष घाटे का रहा है। हर अधिवेशन में इसकी चर्चा होती रही है, सर्वप्रथम चार-पांच व्यक्ति हाथोंहाथ उसकी पूर्ति कर देते थे। बाद में वर्ष में एक विशेषांक निकालकर उस बहाने विज्ञापन लेकर घाटा पूरा करने का प्रयत्न किया जाने लगा। यह प्रतिवर्ष की उलझन थी, एक बार तो इसे बंद ही कर दिया गया था। 14/9/1941 की मीटिंग में कागज की महंगाई व कमी को देखते हुए इसका आकार घटाने का निर्णय लिया।

31/8/1951 की मीटिंग में लिए निर्णय के अनुसार प्रतिवर्ष होने वाले घाटे के कारण 'जैन भारती' प्रकाशन को बंद करने का निर्णय ले लिया था, हालांकि निर्णय सर्वसम्मत नहीं था। 6/10/1951 की मीटिंग में संतोषचंदजी बरड़िया जैसे मुखर व दबंग व्यक्ति ने इसका विरोध दर्ज करवाया। फिर भी बहुमत से बंद करने का निर्णय ले ही लिया। पदाधिकारियों का कहना था–संस्था कब तक घाटा सहेगी, कब तक इसकी पूर्ति करती रहेगी। इसका खूब विरोध हुआ। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। चारों ओर से पुनः प्रारंभ करने की मांग होने लगी। महासभा की प्रतिष्ठामूलक प्रवृत्ति ही यह थी, इसे बंद करने के बाद विद्वानों तक पहुंचने का कौन-सा माध्यम रहा। 2/11/1952 की मीटिंग में

विवरण पत्रिका (साप्ताहिक), जैन भारती (मासिक) का साप्ताहिक 'जैन भारती' नाम से तीन फर्मे का निकालने का तय किया। वार्षिक चंदा बारह रुपए रखा गया। दो पत्र की जगह अब एक हो गया। उसी में आचार्यप्रवर, साधु-साध्वियों के समाचार दिए जाने लगे। विवरण पत्रिका साप्ताहिक निकलती थी, इसे भी साप्ताहिक निकालना शुरू किया। दोनों को एक करने से फिर ग्राहक संख्या हजार के आस-पास हो गई। बाद में विवरण पत्रिका (साप्ताहिक) व जैन भारती (मासिक) प्रकाशित होनी शुरू हो गई। 23/3/1971 से जैन भारती (मासिक) का प्रकाशन बंद कर साप्ताहिक जैन भारती का प्रकाशन शुरू किया। वार्षिक शुल्क 18/- रुपए रखा गया। सन् 73-74 से जैन भारती प्रकाशन में काफी गड़बड़ शुरू हो गई। उस वर्ष 52 में से 23 अंक नहीं निकले। कम ज्यादा यह क्रम चलने लगा।

संपादन सहयोग

जैन भारती की ग्राहक संख्या चाहे कम रही हो, किंतु गुणवत्ता में यह पत्रिका अग्रणी रही है। अनेक विद्वानों के लिए पठनीय रही है। अनेक जैन विद्वान् समय-समय पर अनुकूल टिप्पणी करके पत्रिका की सामग्री की महनीयता प्रकट करते रहे।

समय-समय पर इसकी समीक्षा होती रही, अनेक उतार-चढ़ावों की यात्रा में यह निरंतर बंद होने से किसी तरह से बच गई। महासभा के संघर्ष काल में कभी संयुक्त कभी एक फर्मा जितनी निकली। संघर्ष की मार इस पर गहरी पड़ी। बंगाल में बिजली व कर्मचारियों की अनियमितता की परेशानी भी कम नहीं थी। ऐसे में पत्र निकालना महाभारत जीतना था।

मार्च 1940 से जब 'विवरण पत्रिका' शुरू हुई तब से मंत्री छोगमलजी चौपड़ा संपादक बने तथा श्रीचंदजी रामपुरिया उपसंपादक बने। बाद में रामपुरियाजी ने संपादन का पूरा कार्य संभाल लिया। रामपुरिया सन् 56 तक निरंतर संपादक रहे।

उसके बाद सन् 57 से 60 तक जयचंदलालजी कोठारी, सन् 61 से 65 तक डॉ. जेठमलजी भंसाली व बच्छराजजी संचेती संपादक रहे। सन् 66 से 68 मोहनलालजी बांठियां, सन् 70 में बच्छराजजी संचेती तथा 71 से 73 पुनः बांठियाजी संपादक रहे। सन् 74 से 78 तथा सन् 82 से 84 तक संचेतीजी संपादक रहे। सन् 79-80 में श्रीचंदजी चोरड़िया, सन् 81 में श्रीचंदजी रामपुरिया संपादक रहे। सन् 84 से 88 तक श्रीमती सरोज जैन व हंसा दसाणी संपादक रही।

सन् 1987 से जैन भारती के प्रकाशन की व्यवस्था जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं से की गई। महासभा का शाखा कार्यालय लाडनूं में कार्यरत था। वहां छपने से प्रूफ आदि देखने की समस्या तो खत्म हो ही गई, साथ में समयबद्धता आ गई।

मासिक जैन भारती का निर्णय

योगक्षेम वर्ष (सन् 1989) में संघीय पत्र-पत्रिकाओं पर विशेष चिंतन चला। इस बार जैन भारती को पुनः जैन सिद्धान्तों की प्रतिपादक मासिक पत्रिका बनाने का निर्णय लिया गया। समाचार का स्तंभ 'तेरापंथ टाइम्स' के रूप में अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् द्वारा छपाने का क्रम निर्धारित किया।

योगक्षेम वर्ष में जैन भारती के संपादक के रूप में श्रीचंदजी रामपुरिया एवं सह-संपादक मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन नियुक्त हुए। इस पत्रिका की गुणवत्ता में जो उन्नयन हुआ, वह संतोषजनक ही नहीं, उत्साहजनक रहा। रामपुरियाजी का इस संदर्भ में मार्गदर्शन उपलब्ध रहा। रामपुरियाजी महासभा के साहित्य के कार्य में प्रारंभ से जुड़े हुए रहे। वर्षों तक इसके संपादक, सह-संपादक रहकर पत्र में प्राण-प्रतिष्ठा करते रहे। पत्र की विधा में भी समय-समय पर परिवर्तन किया था, तुलनात्मक लेख देकर पाठकों को यथार्थ तक पहुंचने में मार्ग प्रशस्त करने का काम किया।

तात्विक दृष्टि से तथा समालोचना की दृष्टि से प्रतिकूल से प्रतिकूल निबंध को जैन भारती में अक्षरशः निकाला और उसके साथ में उसका समाधानपरक लेख भी प्रकाशित किया। पाठक दोनों निबंधों को पढ़कर यथार्थ की जानकारी कर लेते थे। इस विधा को हर क्षेत्र

में सराहा गया, प्रशस्त बताया गया। अनेक संपादकों ने स्पष्ट रूप में कहा—'यह हिम्मत की बात है, हम अपने मत के विरोधी लेख को अपने पत्र में नहीं छाप सकते, यदि छाप दें तो लोग कपड़े उतार लेते हैं, इस हेतु आप व आपका समाज साधुवाद के पात्र हैं।'

मुमुक्षु डॉ. शान्ता एक कल्पनाशील, समर्पित और प्रतिभावान साधिका हैं। अध्ययन की दृष्टि से डॉक्टरेट तक वे पहुंची हैं। सन् 1990 से संपादन का दायित्व संभालने के बाद इस कार्य के प्रति मानो अपने को समर्पित ही कर दिया। जैन भारती को गुणात्मक व संख्यात्मक दोनों में जिस रूप में आगे बढ़ाया, समाज में समादरणीय बनाया, वह कल्पना से बाहर था। सामग्री के चयन, उत्कृष्ट संपादन ने जैन भारती को जैन पत्रों में अग्रिम पंक्ति में पहुंचाया।

समग्र जैन चातुर्मास प्रकाशन परिषद् के संयोजक श्री बाबूलाल जैन 'उज्ज्वल' ने 1993 में जैन पत्र-पत्रिकाओं की एक प्रतियोगिता आयोजित की। 350 जैन पत्र-पत्रिकाओं ने इस प्रतियोगिता में प्रविष्टि ली। प्रकाशन, मुद्रण सामग्री आदि बिंदुओं पर चिंतन करके प्रथम स्थान जैन भारती को दिया गया। जैन भारती के लिए यह विशेष गौरव की बात थी। रामपुरियाजी द्वारा अवस्था के कारण यह कार्य छोड़ने पर कन्हैयालालजी छाजेड़ प्रधान संपादक बने व संपादक शांताजी रही।

1999 मई से दिसंबर 2012 तक, संपादक—श्री शुभू पटवा, सह संपादक—डॉ. बच्छराज दूगड़ रहे।

शुभूजी पटवा के संपादक बनने के बाद इसकी चिंतन, दर्शन व विचारोत्तेजक पत्रिका के रूप में छवि बनी है। पटवाजी जाने-माने पत्रकार व पर्यावरणविद् हैं। उप-संपादक दूगड़जी जैन विश्व भारती संस्थान में प्रोफेसर हैं।

2013 जन. से वर्तमान में मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन ने अब फिर से संपादकीय दायित्व संभाल लिया है। ❑

अहंकार

महान् ज्ञानी सम्राट् विद्वानों और साधकों का मन से आदर करता था। नीतिपूर्वक शासन करता, अपने को बहुत मामूली व्यक्ति मानता। कहता था, 'मैं प्रजा का सेवक मात्र हूं।' पूरे राज्य में लोग उसे प्यार करते। गुणीजन उससे गहरा लगाव रखते, उसकी इज्जत करते। जितना प्यार और सम्मान उसे मिलता, राजा मानो उसके बोझ से दबा, उतना ही विनम्र होता चला जाता।

एक दिन वह एक जैन साधक से मिलने गया। कहने लगा, 'मैंने अपना अहंकार त्याग कर अपने को पूरी तरह से दूसरों की सेवा में समर्पित कर दिया है, अब आप.....'

राजा की बात काटते हुए जैन साधक बीच ही में गुस्से से चिल्लाया, 'अबे, तो क्या मुझ पर कोई एहसान कर दिया तुमने।'

क्रोध और अपमान से राजा का चेहरा तमतमा गया। वह अवाक् रह गया। जैन साधक बच्चों की तरह से खिलखिला कर हंस पड़ा। बोला, 'अरे! अहंकार तो है।'

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

SMT MACHINES

INFRASTRUCTURE

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

SMT

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

Fine Strokes (09866291098)

जैन भारती, जुलाई, 2013 ■ प्रेषण दिनांक 28 जून, 2013
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन
बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन
बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।